जयशंकर प्रसाद की श्रेष्ठ कहानियाँ

जयशंकर प्रसाद

लेखक की चुनिंदा कहानियों का संकलन

जयशंकर प्रसाद

30 जनवरी 1889—14 जनवरी 1937

खड़ी भाषा में लिखने वाले जयशंकर प्रसाद को नयी पीढ़ी में हिन्दी को लोकप्रिय करने का श्रेय जाता है। कविता, नाटक, कहानी, उपन्यास सभी विधाओं में लिखने वाले जयशंकर प्रसाद की प्रारम्भिक कृतियों, विशेषकर नाटकों में संस्कृत का प्रभाव दिखता है। उनकी कई कहानियों के विषय सामाजिक और कई नाटकों के विषय ऐतिहासिक और पौराणिक हैं। उनकी सभी कृतियों में एक दार्शनिक झुकाव दिखता है और यह शायद इसलिए कि बचपन में पिता के गुज़र जाने के बाद परिवार की आर्थिक तंगी के कारण उन्हें बचपन से काफी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। विधिवत् अपनी पढ़ाई पूरी नहीं कर पाए फिर भी वह घर पर ही स्वाध्याय करते रहे और साहित्य, भाषा, इतिहास में काफी ज्ञान अर्जित किया।

हिन्दी के छायावाद युग के चार स्तम्भों में से एक माने जाने वाले, जयशंकर प्रसाद ने 48 वर्षों के छोटे-से जीवनकाल में लेखन द्वारा हिन्दी साहित्य पर अपनी अमिट छाप छोड़ी। उनका महाकाव्य कामायनी उनकी सबसे प्रसिद्ध रचना है। इसके अतिरिक्त स्वाधीनता आंदोलन के दिनों में लिखी उनकी कविता 'हिमाद्री तुंग शृंग से' आज भी बहुत लोकप्रिय है। उनके नाटकों में स्कंदगुप्त, चंद्रगुप्त, ध्रुवस्वामिनी उल्लेखनीय हैं, कंकाल और तितली उनके जाने-माने उपन्यास हैं।

जयशंकर प्रसाद की श्रेष्ठ कहानियाँ

सम्पादन व भूमिका

सुरेश सलिल

भूमिका

जयशंकर प्रसाद और हिन्दी कहानी

हिन्दी कहानी: पृष्ठभूमि

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कहानी को उपन्यास से अलगाने के उद्देश्य से, अंग्रेज़ी की 'शॉर्ट स्टोरी' की तर्ज पर 'छोटी कहानी' कहा है, किन्तु वे अंग्रेज़ी की 'शॉर्ट स्टोरी' से हिन्दी कहानी को भिन्न पहचान भी देते हैं, कहानी के "इतने रूप रंग हमारे सामने आए हैं कि सबके सब पाश्चात्य लक्षणों और आदर्शों के भीतर नहीं समा सकते।" वहीं वे यह भी लक्ष्य करते हैं कि हिन्दी कहानी के विकास में "कवियों का भी पूरा योग रहा।" शुक्लजी के इस कथन के आलोक में सर्वप्रथम तो ध्यान जाता है। 19वीं सदी के उन प्रारम्भिक वर्षों की ओर, जब एक ओर फोर्ट विलियम में गिलक्राइस्ट के निर्देशन में उर्दू और हिन्दी गद्य की दागबेल डाली जा रही थी और दूसरी ओर मुंशी सदासुखलाल व सैयद इंशा अल्ला खां स्वतन्त्र रूप से हिन्दी गद्य का ठाठ खड़ा कर रहे थे। इन सबमें अकेले इंशा ही थे, जिनका ध्यान हिन्दी की पहली मौलिक कहानी लिखने की ओर गया और उन्होंने उदयभान चरित या रानी केतकी की कहानी लिखी, जिसमें 'हिन्दी को छोड़कर और किसी बोली का पुट' न था। सैयद इंशा अपने वक्त के प्रतिष्ठित उर्दू शायर थे।

आज अधिकांश आलोचक हिन्दी कथा साहित्य के उद्‌भव पर बात करते हुए, बहुत चतुराई से, इंशा और 'रानी केतकी की कहानी' को बढ़ा जाते हैं और हिन्दी कथा-साहित्य के उद्‌भव को सौ साल आगे खींच लाते हैं। यहाँ तक कि देवकी नंदन खत्री और उनके चन्द्रकान्ता का उल्लेख भी काफी किन्तु, परन्तु के साथ होता है। किशोरी लाल गोस्वामी का भी यही हश्र होता, अगर उन्होंने इन्दुमती कहानी न लिखी होती (प्रकाशन: 1900)। इन्दुमती भी यद्यपि है संयोग पर आधारित मनोरंजन प्रधान कहानी ही, किन्तु बांग्ला गल्प पैटर्न की और आधुनिक भाषा संस्कारों में पली होने के कारण सहज स्वीकार्य हो गईं। हिन्दी कथा आलोचना परम्परा और आधुनिकता के द्वन्द्व से कभी मुक्त नहीं हो पाई। एक तरफ वह प्रेमचन्द को अपना आदर्श मानती है कि उन्होंने सरल प्रवाही हिन्दुस्तानी ज़बान में, चुटीली मुहावरेदानी के साथ आधुनिक भारतीय जीवन के प्रश्नों और चुनौतियों की कहानियाँ लिखीं,

वहीं दूसरी तरफ़ वह इंशा और सरशार की उस धर्म-निरपेक्ष भाषा-शिल्प परम्परा की अनदेखी भी करती है, जिसके सम्पर्क से प्रेमचन्द सरस प्रवाही हिन्दुस्तानी, ज़बान और चुटीली मुहावरेदानी वाला शिल्प विकसित कर सके।

प्रेमचन्द से पहले, 19वीं सदी के अन्तिम और बीसवीं सदी के प्रारम्भिक वर्षों से माधवराव सप्रे, मास्टर भगवानदास, रामचंद्र शुक्ल, गिरिजादत्त वाजपेयी और 'बंगमहिला' की भी कहानियाँ आ चुकी थीं। पहल करने के अर्थ में इनका अपना महत्त्व है, होना भी चाहिए—किसी विधा की शुरुआत करना साधारण बात नहीं, किन्तु जब सातत्व का प्रश्न उठता है, तो इनके महत्त्व को ऐतिहासिक-भर मान कर सन्तोष कर लेना पड़ता है।

प्रसाद और प्रेमचन्द: दो शीर्ष

यहीं हमारे सामने दो व्यक्तित्त्व उभरते हैं, पहले दृष्टि पड़ती है जयशंकर 'प्रसाद' पर और उसके तत्काल बाद प्रेमचन्द पर। हिन्दी कहानी में दोनों का अवतरण लगभग साथ-साथ; या कहें आगे-पीछे हुआ। भाषिक कालक्रम में प्रसादजी की ओर पहले दृष्टि जाती है। उनकी पहली कहानी 'ग्राम' 1940 में इन्दु पत्रिका में प्रकाशित हुई और दो वर्ष उपरान्त, 1912 में, उनकी 11 कहानियों का पहला संग्रह छाया भी आ गया। प्रेमचन्द उर्दू में जयशंकर प्रसाद से पहले लिखने लगे थे और उनकी कहानियाँ प्राय: कानपुर से मुंशी दया नारायण निगम द्वारा (सम्पादित-प्रकाशित पत्र ज़माना में प्रकाशित होती थीं। सरस्वती की भाँति, ज़माना उस ज़माने का बहुचर्चित-बहुपठित पत्र था। चूँकि उसका दखल साहित्य के साथ-साथ राजनीति में, विशेषकर स्वतन्त्रता आन्दोलन में था, लिहाज़ा सरकार की नज़र भी उसमें छपने वाले लेखकों पर रहती थी। यही वजह थी कि प्रेमचन्द का पहला कहानी-संग्रह सोज़े-वतन (उर्दू) 1909 में प्रकाशित हुआ, तो उसे सरकार ने तत्काल ज़ब्त कर लिया। प्रेमचन्द के यहाँ कोई लाग-लपेट न थी। उनकी कहानियों में गुलामी की वेदना और आज़ादी की आकांक्षा की सीधी अभिव्यक्ति थी, जो धीरे-धीरे सामाजिक यथार्थ में रूपान्तरित होती गई। उसी दौरान स्वाधीनता आन्दोलन के बेलौस मुखपत्र के रूप में कानपुर से प्रताप (हिन्दी साप्ताहिक, 1913) का प्रकाशन शुरू हुआ, तो उसके सम्पादक गणेश शंकर विद्यार्थी ने राजनीति के साथ-साथ, आज़ादी की अभिव्यक्ति वाले, प्रखर क्रान्तिकारी तेवर वाले साहित्य को भी प्रताप में प्रमुख स्थान देना शुरू किया। दयानारायण निगम, गणेश शंकर के मित्र थे और गणेश जी फ़ारसी-उर्दू में भी निष्णात होने के कारण ज़माना के उत्साही पाठक। ज़माना के रास्ते वे प्रेमचन्द की कहानियों के पाठक-प्रशंसक बने और उसी सूत्र को पकड़ कर उन्होंने प्रेमचन्द पर यह दबाव बनाना शुरू किया कि उन्हें उर्दू के साथ-साथ हिन्दी में भी कहानियाँ लिखनी चाहिए। इस तरह प्रेमचन्द की पहली हिन्दी कहानी 'परीक्षा' प्रताप के 1914 के वार्षिकांक में प्रकाशित हुई। आगे भी लगभग 1925 तक प्रेमचन्द की कोई 8-10 कहानियाँ प्रताप परिवार की ही पत्रिका प्रभा में प्रकाशित हुईं। खैर, वह अवान्तर प्रसंग है। मुख्य बात यह है कि हिन्दी कहानी की दो मुख्यधाराओं के प्रवर्तक कथाकार जयशंकर प्रसाद और प्रेमचन्द लगभग साथ-साथ सामने आए और उन्होंने कहानी के आगे उभरने वाले परिदृश्य

पर अपनी सीधी छाप छोड़ी।

इस लेख का विषय-क्षेत्र चूँकि हिन्दी कहानियों के प्रवृत्तिगत अध्ययन-विवेचन का न होकर, सिर्फ प्रसादजी के कहानी-लेखन तक सीमित है, अत: यहाँ उन्हीं को केन्द्र में रख कर चर्चा की जा रही है।

प्रसाद: जीवन और कृतित्व

जयशंकर प्रसाद छायावाद के शीर्षस्तम्भ कवि थे। लहर, झरना, आसूँ आदि काव्यकृतियों के अतिरिक्त उन्होंने कामायनी प्रबन्ध काव्य का प्रणयन किया था। कविता के अतिरिक्त नाटकों के क्षेत्र में भी उनका अवदान शीर्ष स्थानीय है। राज्यश्री, विशाख, कामना, जनमेजय का नाम यक्ष, स्कन्धगुप्त, चन्द्रगुप्त, ध्रुवस्वामिनी, एक घूँट आदि कोई 12 नाटक रचकर उन्होंने भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के बाद हिन्दी नाट्य विधा को समृद्ध किया। कविता और नाटक के अतिरिक्त हिन्दी कथा-साहित्य के विकास में भी उनकी उल्लेखनीय भूमिका रेखांकित की जाती है। कंकाल, तितली, इरावती (अपूर्ण) उपन्यासों और छाया, प्रतिध्वनि, आकाशदीप, आँधी और इन्द्रजाल—इन पाँच कहानी संग्रहों के द्वारा उन्होंने न सिर्फ हिन्दी कथा साहित्य को समृद्ध किया, बल्कि एक विशिष्ट कथा-धारा के प्रवर्तक कथाकार के रूप में पहचाने गए।

प्रसादजी का जन्म सन् 1889 में वाराणसी के एक समृद्ध व्यापारी घराने में हुआ। उनका पुश्तैनी व्यापार तम्बाकू का था और इसीलिए उनके पितामह श्री शिवरत्न साहु 'सुंघनी साहु' के रूप में विख्यात थे। 'प्रसादजी' पैदा हुए थे साहित्य-सेवा के लिए—नौ वर्ष की अल्पायु में ही वे काव्याभ्यास करने लगे थे, किन्तु वात्याचक्र कुछ ऐसा बना कि 17 वर्ष की वय तक पहुँचते-न-पहुँचते उन्हें अपना पैतृक व्यापार सम्भालना पड़ा। बारह वर्ष की वय में उनके पिता का देहान्त हुआ, तदुपरान्त, चार-पाँच वर्ष के भीतर, पहले उनकी माँ गईं, फिर ज्येष्ठ भ्राता श्री शम्भुरत्न भी चल बसे। इस तरह, युवावस्था में प्रवेश करते ही पारिवारिक, व्यावसायिक, सामाजिक और साहित्यिक—सभी दायित्व एक साथ जयशंकर प्रसाद के कच्चे कन्धों पर आ पड़े। यह उनका जीवट ही था कि न सिर्फ सफलतापूर्वक सभी दायित्वों का वहन किया, बल्कि अपने समय के शीर्ष साहित्य-पुरुषों में प्रतिष्ठित भी हुए।

'प्रसाद' जी की शिक्षा की शुरुआत घर पर ही हुई। आर्थिक अभाव था नहीं, अत: संस्कृत, हिन्दी, फ़ारसी-उर्दू के अलग-अलग अनुभवी शिक्षक नियुक्त हुए और वे घर पर ही शिक्षित-दीक्षित होने लगे। कालान्तर में कुछ समय के लिए उन्हें बनारस के क्वींस कॉलेज में प्रवेश दिलाया गया, किन्तु वहाँ वे आठवीं कक्षा तक ही पढ़ पाए, किन्तु 'प्रसादजी' में स्वाध्याय की वृत्ति बहुत उत्कट थी। अन्य सभी दायित्वों का निर्वाह करते हुए उन्होंने वेद, उपनिषद-पुराण, न्याय, तर्क, साहित्य, दर्शन और इतिहास का गहन अध्ययन किया। इस सबके बीच कविता, नाटक और कथा आदि विविध साहित्य-विधाओं में लेखन अभ्यास भी अनवरत चलता रहा।

'प्रसाद' जी के साहित्यिक जीवन का प्रारम्भ ब्रजभाषा में काव्याभ्यास से हुआ। जब वे नौ वर्ष के थे, तभी एक सवैया रचकर अपने गुरुदेव को दिखाया था। एक साहित्यकार के

रूप में यद्यपि उन्हें सर्वाधिक ख्याति कवि-रूप में मिली और वे छायावाद की वृहत्त्रयी के सबसे यशस्वी कवि के रूप में प्रतिष्ठित हुए, किन्तु प्रकाशन की दृष्टि से उनकी कहानियाँ और नाटक पहले सामने आए। उनका पहला नाटक सज्जन 1910-11 में इन्दु में प्रकाशित हुआ और पहली कहानी 'ग्राम' भी 1910 में ही इन्दु में प्रकाशित हो चुकी थी। इतना ही नहीं, 1912 में 'ग्राम' समेत उनकी 11 कहानियों का पहला संग्रह छाया भी प्रकाशित हो गया था, जबकि चित्राधार, झरना आदि उनके पहले कविता-संग्रह 1918 में प्रकाशित हुए।

प्रसाद का कहानीकार

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'प्रसादजी' को 'गूढ़ व्यंजना और रमणीय कल्पना के सुन्दर समन्वय का कथाकार कहा था। शुक्लजी के इस कथन में 'प्रसादजी' के भावना लोक और विचारलोक का सूत्रवत् संकेत निहित है। प्रसाद की संवदेना खांटी कवि की थी और उनकी वैचारिक तैयारी प्राचीन संस्कृति व इतिहास के आदर्शों की श्रेणी में हुई थी। किसी कहानी का अंकुर उनके मानस में घटनाओं और चरित्रों के डिटेल्स के साथ नहीं फूटता, बल्कि एक काव्यात्मक बिम्ब के रूप में उभरता है और वे उसे अपनी काव्य संवेदना, अंतरिक अनुभूति और भावनात्मक द्वन्द्व के सहारे कहानी के रूप में विकसित करते हैं। 'मदन मृणालिनी' के मदन, 'जहाँनारा' के औरंगजेब, 'पाप की पराजय' के घनश्याम, 'आकाशदीप' की चंपा, 'गुण्डा' के नन्हकू सिंह आदि चरित्र अविस्मरणीय इसलिए बन सके, कि उनका विकास भावना और आदर्श के द्वन्द्व से हुआ है। आचार्य शुक्ल ने गुलेरीजी कहानी 'उसने कहा था' के सन्दर्भ में "पक्के यथार्थवाद के बीच, सुरुचि की चरम मर्यादा के भीतर, भावना का चरम उत्कर्ष अत्यन्त निपुणता के साथ सम्पुटित" होने की जो व्याख्या की है 'प्रसादजी' की अधिकांश चर्चित कहानियाँ भी उसी व्याख्या की कसौटी पर खरी उतरती हैं।

प्रेमचन्द और प्रसाद को सामान्यतया हिन्दी कहानी की दो धाराओं के प्रवर्तक कथाकार के रूप में पहचाना जाता है, यानी प्रेमचन्द सामाजिक यथार्थवादी धारा के प्रवर्तक और जयशंकर प्रसाद आदर्शवादी धारा के प्रवर्तक। वस्तुत: प्रेमचन्द का कथा-समाज हमारे वर्तमान का है, उस वर्तमान का, जिसमें श्रेणी-विभाजन साफ-साफ लक्ष्य किया जाने लगा, शोषण और उत्पीड़न के रूप स्पष्ट पहचाने जाने लगे। दूसरी ओर जयशंकर प्रसाद का कथा-समाज प्राचीन गौरव गाथाओं और ऐतिहासिक आदर्शलोक से विकसित हुआ। सामाजिक और राजनीतिक आलोड़न, जो बीसवीं सदी में हमारे देश में बहुत मुखर हुआ, प्रेमचन्द के कथा-साहित्य में उसे सशक्त अभिव्यक्ति मिली। आचार्य शुक्ल के शब्दों में, "प्रेमचन्द के कुछ पात्रों में ऐसे स्वाभाविक ढाँचे की व्यक्तिगत विशेषताएँ मिलने लगीं, जिन्हें सामने पाकर अधिकांश लोगों को यह भासित हो कि कुछ इसी ढंग की विशेषता वाले व्यक्ति हमने कहीं-न-कहीं देखे हैं"। साथ ही "प्रेमचन्द की सी चलती और पात्रों के अनुरूप रंग बदलने वाली भाषा भी पहले नहीं देखी गई थी।" दूसरी तरफ प्रसाद के कथा-साहित्य में "मधुर या मार्मिक प्रसंग कल्पना के सहारे किसी ऐतिहासिक काल के खण्डचित्र... भारतीय संस्कृति और प्रभाव की झलक" पाठक की सम्वेदना पर किसी स्वप्नलोक का-सा प्रभाव छोड़ते हैं।

उनके चरित्र और परिवेश और परिस्थितियाँ प्राचीन संस्कृत साहित्य और इतिहास और काव्यानुभूति के संयोग से एक ऐसा आदर्शवादी यथार्थ सृजित करते हैं, जिसमें करुणा, वेदना, त्याग, बलिदान और ओजस् की भाव-झंकृतियाँ सुनाई देती हैं।

सामाजिक यथार्थ और आदर्श यथार्थ के इस अन्तर पर टिप्पणी करते हुए स्वयं प्रसादजी ने कहा है, "यथार्थवाद क्षुद्रों का ही नहीं, अपितु महानों का भी है।" और चूँकि 'महान' और 'महानता' की परिकल्पना ही प्राचीन संस्कृति और इतिहास से हुई, इसलिए कई बार 'प्रसाद' को पुनरूत्थानवादी चिन्तक और साहित्यकार तक कहा गया। इस सरलीकरण के प्रत्युत्तर स्वरूप डॉ. रामविलास शर्मा ने अन्यत्र कहा है, "प्रसाद साहित्य हिन्दीभाषी जनता की मूल्यवान विरासत है। उसके आधार पर हम कह सकते हैं कि इस संसार को सत्य समझना, पीड़ित जनता का समर्थन करना, अन्याय का सक्रिय विरोध करना, साहित्य में उदासीन और तटस्थ न रह कर सामाजिक विकास में सक्रिय योग देना, यह सब भारतीय संस्कृति के अनुकूल ही है, उसका सहज विकास है। प्रसाद की रचनाएँ दु:खवाद, मायावाद, शुद्ध कलावाद, भारतीय इतिहास के वर्गों को अस्वीकार करने आदि के विरोध में सजग लेखक के हाथों में सबल अस्त्र हैं।"

और अंत में

कुछ साल पहले हिन्दी में 'कवियों की कहानियाँ,' शीर्षक से उदय प्रकाश, विष्णु नागर आदि कवि-कथाकारों के हवाले से एक हास्यास्पद विमर्श खड़ा करने का प्रयास किया गया था। हास्यास्पद इन अर्थों में कि शुरू से ही चंडीप्रसाद हृदयेश, जयशंकर प्रसाद, निराला, सुभद्राकुमारी चौहान आदि कविता और कथा साहित्य में साथ-साथ सक्रिय रहे, आगे भी अज्ञेय, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, रघुवीर सहाय आदि के यहाँ यह सिलसिला चलता रहा। भला तब कवियों की कहानियाँ और कथाकारों के कहानियाँ जैसी भेद-दृष्टि का विवेक हिन्दी आलोचना में क्यों नहीं जागा? प्रेमचन्द और 'प्रसाद' या आगे चल कर यशपाल और 'अज्ञेय' की कहानियों की दृष्टि, सम्वेदना, रचना-प्रक्रिया और प्रभावान्विति के तुलनात्मक अध्ययन को लेकर ऐसे विमर्श की कोई तुक भी हो सकती थी। शायद हिन्दी कहानी का आलोचना पक्ष भी कुछ समृद्ध होता। शुक्लजी ने बेशक प्रेमचन्द और 'प्रसाद' के सन्दर्भ में इस तरह के अध्ययन का सूत्रवत्, सूत्रपात किया था।

प्रेमचन्द और प्रसाद के कथा-साहित्य में जो अन्तर दिखाई देता है, वह सम्वेदना के धरातल का है। प्रेमचन्द के यहाँ सामाजिक सम्वेदना प्रबल थी और 'प्रसाद' के यहाँ सांस्कृतिक सम्वेदना। साथ ही प्रेमचन्द मूलत: कथाकार थे और प्रसाद का कथाकार उनके कवि में से अनुस्यूत हुआ था। प्रेमचन्द जब आज़ादी की बात करते थे तो उनके सामने पतनशील सामन्तवाद, उपनिवेशवाद और स्वाधीनता आन्दोलन का परिप्रेक्ष्य होता था, और 'प्रसाद' जब आज़ादी की बात करते थे तो उनके सामने सहस्राब्दियों का सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य होता था और उनकी सम्वेदना में स्वतन्त्रता 'स्वयं प्रभा समुज्ज्वला' के रूप में प्रतिध्वनि होती थी। इस प्रकार प्रेमचन्द और प्रसाद का कथा-साहित्य एक अर्थ में व्यापक

भारतीय समाज और संस्कृति की अभिव्यक्ति ही माना जाएगा।

—सुरेश सलिल

क्रम

ग्राम

टन! टन! टन! स्टेशन पर घण्टी बोली।

श्रावण-मास की संध्या भी कैसी मनोहारिणी होती है! मेघ-माला-विभूषित गगन की छाया सघन रसाल-कानन में पड़ रही है! अँधियारी धीरे-धीरे अपना अधिकार पूर्व-गगन में जमाती हुई सुशासनकारिणी महारानी के समान, विहंग प्रजागण को सुख-निकेतन में शयन करने की आज्ञा दे रही है। आकाशरूपी शासन-पत्र पर प्रकृति के हस्ताक्षर के समान बिजली की रेखा दिखाई पड़ती है...ग्राम्य स्टेशन पर कहीं एक-दो दीपालोक दिखाई पड़ता है। पवन हरे-हरे निकुंजों में से भ्रमण करता हुआ झिल्ली के झनकार के साथ भरी हुई झीलों में लहरों के साथ खेल रहा है। बुँदियाँ धीरे-धीरे गिर रही हैं, जो जूही कलियों को आर्द्र करके पवन को भी शीतल कर रही हैं।

थोड़े समय में वर्षा बन्द हो गई। अँधकार-रूपी अंजन के अग्रभाग-स्थित आलोक के समान चतुर्दशी की लालिमा को लिए हुए चन्द्रदेव प्राची में हरे-हरे तरुवरों की आड़ में से अपनी किरण-प्रभा दिखाने लगे। पवन की सनसनाहट के साथ रेलगाड़ी का शब्द सुनाई पड़ने लगा। सिग्नल ने अपना कार्य किया। घण्टा का शब्द उस हरे-भरे मैदान में गूँजने लगा। यात्री लोग अपनी गठरी बाँधते हुए स्टेशन पर पहुँचे। महादैत्य के लाल-लाल नेत्रों के समान अंजन-गिरिनिभ इंजिन का अग्रस्थित रक्तआलोक दिखाई देने लगा। पागलों के समान बड़बड़ाती हुई अपनी धुन की पक्की रेलगाड़ी स्टेशन पहुँच गई। धड़ाधड़ यात्री लोग उतरने-चढ़ने लगे। एक स्त्री की ओर देखकर फाटक के बाहर खड़ी हुई दो औरतें, जो उसकी सहेली मालूम देती हैं, रो रही हैं और वह स्त्री एक मनुष्य के साथ रेल में बैठने को उद्यत है। उनकी क्रन्दन-ध्वनि से वह स्त्री दीन-भाव से उनकी ओर देखती हुई, बिना समझे हुए, सेकण्ड क्लास की गाड़ी में चढ़ने लगी; पर उसमें बैठे हुए बाबू साहब—'यह दूसरा दर्जा है, इसमें मत चढ़ो' कहते हुए उतर पड़े, और अपना हण्टर घुमाते हुए स्टेशन से बाहर होने का उद्योग करने लगे।

विलायती पिक का वृचिस पहने, बूट चढ़ाए, हण्टिग कोट, धानी रंग का साफा, अंग्रेज़ी-हिन्दुस्तानी का महासम्मेलन बाबू साहब के अंग पर दिखाई पड़ रहा है। गौर वर्ण, उन्नत ललाट—उनकी आभा को बढ़ा रहे हैं। स्टेशन मास्टर से सामना होते ही शेकहैंड करने के उपरान्त बाबू साहब से बातचीत होने लगी।

स्टेशन मास्टर—आप इस वक्त कहाँ से आ रहे हैं?

मोहनलाल—कारिन्दों ने इलाके में बड़ा गड़बड़ मचा रक्खा है, इसलिए मैं कुसुमपुर—जो हमारा इलाका है—इंस्पेक्शन के लिए जा रहा हूँ।

स्टेशन मास्टर—फिर कब पलटियेगा?

मोहनलाल—दो रोज में। अच्छा, गुड ईवनिंग!

स्टेशन मास्टर, जो लाइन-क्लियर दे चुके थे, गुड ईवनिंग करते हुए अपने ऑफिस में घुस गए।

बाबू मोहनलाल अंग्रेज़ी काठी से सजे हुए घोड़े पर, जो पूर्व ही स्टेशन पर खड़ा था, सवार होकर चलते हुए।

सरल स्वभाव ग्रामवासिनी कुलकामिनीगण का सुमधुर संगीत धीरे-धीरे आम्रकानन में से निकलकर चारों ओर गूँज रहा है। अँधकार गगन में जुगनू-तारे चमक-चमकर चित्त को चंचल कर रहे हैं। ग्रामीण लोग अपना हल कन्धे पर रखे, बिरहा गाते हुए, बैलों की जोड़ी के साथ, घर की ओर प्रत्यावर्त्तन कर रहे हैं।

एक विशाल तरुवर की शाखा में झूला पड़ा हुआ है, उस पर चार महिलाएँ बैठी हैं और पचासों उनको घेरकर गाती हुई घूम रही हैं। झूले के पेंग के साथ 'अबकी सावन सइयाँ घर रहु रे' की सुरीली पचासों कोकिल कण्ठ से निकली हुई तान पशुगणों को भी मोहित कर रही हैं। बालिकाएँ स्वच्छन्द भाव से क्रीड़ा कर रही हैं। अकस्मात् अश्व के पद-शब्द ने उन सरला कामिनियों को चौंका दिया। वे सब देखती हैं, तो हमारे पूर्व-परिचित बाबू मोहनलाल घोड़े को रोककर उस पर से उतर रहे हैं। वे सब उनका भेष देखकर घबड़ा गईं और आपस में कुछ इंगित करके चुप रह गईं।

बाबू मोहनलाल ने निस्तब्धता को भंग किया और बोले—भद्रे! यहाँ से कुसुमपुर कितनी दूर है? और किधर से जाना होगा? एक प्रौढ़ा ने सोचा कि 'भद्रे' कोई परिहास शब्द तो नहीं है, पर वह कुछ कह न सकी, केवल एक ओर दिखाकर बोली—यहाँ से डेढ़ कोस तो बाय, इहै पैंड़वा जाई।

बाबू मोहनलाल उसी पगडण्डी से चले। चलते-चलते उन्हें भ्रम हो गया और वह अपनी छावनी का पथ छोड़कर दूसरे मार्ग से जाने लगे। मेघ घिर आए, जल वेग से बरसने लगा, अँधकार और घना हो गया। भटकते-भटकते वह एक खेत के समीप पहुँचे; वहाँ उस हरे-भरे खेत में एक ऊंचा और बड़ा मचान था, जो कि फूस से छाया हुआ था और समीप ही में एक छोटा-सा कच्चा मकान था।

उस मचान पर बालक और बालिकाएँ बैठी हुईं कोलाहल मचा रही थीं। जल में भीगते हुए भी मोहनलाल खेत के समीप खड़े होकर उनके आनन्द-कलरव को श्रवण करने लगे।

भ्रान्त होने से उन्हें बहुत समय व्यतीत हो गया। रात्रि अधिक बीत गई। कहाँ ठहरें? इसी विचार में खड़े रहे, बूँदें कम हो गईं। इतने में एक बालिका अपने मलिन वसन के अंचल की आड़ में दीप लिए हुए उसी मचान की ओर जाती हुई दिखाई पड़ी।

बालिका की अवस्था 15 वर्ष की थी। आलोक से उसका अंग अँधकार घन में विद्युल्लेखा की तरह चमक रहा था। यद्यपि दरिद्रता ने उसे मलिन कर रखा है, पर ईश्वरीय सुषमा उसके कोमल अंग पर अपना निवास किए हुए है। मोहनलाल ने घोड़ा बढ़ाकर उससे कुछ पूछना चाहा, पर संकुचित होकर ठिठक गए, परन्तु पूछने के अतिरिक्त दूसरा उपाय ही नहीं था। अस्तु, रूखेपन के साथ पूछा—कुसुमपुर का रास्ता किधर है?

बालिका इस भव्य मूर्ति को देखकर डरी, पर साहस के साथ बोली—मैं नहीं जानती। ऐसे सरल नेत्र-संचालन से इंगित करके उसने ये शब्द कहे कि युवक को क्रोध के स्थान पर हंसी आ गई और कहने लगा—तो जो जानता हो, मुझे बतलाओ, मैं उससे पूछ लूँगा।

बालिका—हमारी माता जानती होंगी।

मोहनलाल—इस समय तुम कहाँ जाती हो?

बालिका—(मचान की ओर दिखाकर) वहाँ जो कई लड़के हैं उनमें से एक हमारा भाई है, उसी को खिलाने जाती हूँ।

मोहनलाल—बालक इतनी रात को खेत में क्यों बैठा है?

बालिका—वह रात-भर और लड़कों के साथ खेत ही में रहता है।

मोहनलाल—तुम्हारी माँ कहाँ है?

बालिका—चलिए, मैं लिवा चलती हूँ।

इतना कहकर बालिका अपने भाई के पास गई और उसको खिलाकर तथा उसके पास बैठे हुए बालकों को भी कुछ देकर उसी क्षुद्र-कुटीराभिमुख गमन करने लगी। मोहनलाल उस सरला बालिका के पीछे चले।

उस क्षुद्र कुटीर में पहुँचने पर एक स्त्री मोहनलाल को दिखाई पड़ी, जिसकी अंगप्रभा स्वर्ण-तुल्य थी, तेजोमय मुख-मण्डल तथा ईषत् उन्नत अधर अभिमान से भरे हुए थे, अवस्था उसकी 50 वर्ष से अधिक थी। मोहनलाल की आन्तरिक अवस्था, जो ग्राम्य जीवन देखने से कुछ बदल चुकी थी, उस सरल-गम्भीर-तेजोमय मूर्ति को देख और भी सरल विनययुक्त हो गई। उसने झुककर प्रणाम किया। स्त्री ने आशीर्वाद दिया और पूछा—बेटा! कहाँ से आते हो?

मोहनलाल—मैं कुसुमपुर जाता था, किन्तु रास्ता भूल गया...।

'कुसुमपुर' का नाम सुनते ही स्त्री का मुख-मण्डल आरक्तिम हो गया और उसके नेत्रों से दो बूँद आँसू निकल आए। अश्रु करुणा के नहीं, किन्तु अभिमान के थे।

मोहनलाल आश्चर्यान्वित होकर देख रहे थे। उन्होंने पूछा—आपको कुसुमपुर के नाम से क्षोभ क्यों हुआ?

स्त्री—बेटा! उसकी बड़ी कथा है, तुम सुनकर क्या करोगे?

मोहनलाल—नहीं, मैं सुनना चाहता हूँ यदि आप कृपा करके सुनावें।

स्त्री—अच्छा, कुछ जलपान कर लो, तब सुनाऊँगी।

पुन: बालिका की ओर देखकर स्त्री ने कहा—कुछ जल पीने को ले आओ।

आज्ञा पाते ही बालिका उस क्षुद्र गृह के एक मिट्टी के बर्तन में से कुछ वस्तु निकाल, उसे एक पात्र में घोलकर ले आई और मोहनलाल के सामने रख दिया। मोहनलाल उस शर्बत को पान करके फूस की चटाई पर बैठकर स्त्री की कथा सुनने लगे।

स्त्री कहने लगी—हमारे पति इस प्रान्त के गण्य भूस्वामी थे और वंश भी हम लोगों का बहुत उच्च था। जिस गाँव का अभी आपने नाम लिया है, वहीं हमारे पति की प्रधान जमींदारी थी। कार्यवश कुन्दनलाल नामक एक महाजन से कुछ ऋण लिया गया। कुछ भी विचार न करने से उसका बहुत रुपया बढ़ गया और जब ऐसी अवस्था पहुँची तो अनेक उपाय करके हमारे पति धन जुटाकर उसके पास ले गए, तब उस धूर्त ने कहा—"क्या हर्ज है बाबू साहब! आप आठ रोज में आना, हम रुपया ले लेंगे, और जो घाटा होगा, उसे छोड़ देंगे, आपका इलाका फिर जाएगा, इस समय रेहन-नामा भी नहीं मिल रहा है।" उसका विश्वास करके हमारे पति फिर बैठे रहे और उसने कुछ भी न पूछा। उनकी उदारता के कारण वह संचित धन भी थोड़ा हो गया, और उधर उसने दावा करके इलाका...जो कि वह ले लेना चाहता था, बहुत थोड़े रुपयों में नीलाम करा लिया। फिर हमारे पति के हृदय में उस इलाके के इस भाँति निकल जाने के कारण, बहुत चोट पहुँची और इसी से उनकी मृत्यु हो गई। इस दशा के होने के उपरान्त हम लोग इस दूसरे गाँव में आकर रहने लगीं। यहाँ के जमींदार बहुत धर्मात्मा हैं, उन्होंने कुछ सामान्य 'कर' पर यह भूमि दी है, इसी से अब हमारी जीविका है।...

इतना कहते-कहते स्त्री का गला अभिमान से भर आया और कुछ कह न सकी।

स्त्री की कथा सुनकर मोहनलाल को बड़ा दु:ख हुआ। रात विशेष बीत चुकी थी, अत: रात्रि-यापन करके, प्रभात में मलिन तथा पश्चिमगामी चन्द्र का अनुसरण करके, बताए हुए पथ से वह चले गए।

पर उनके मुख पर विषाद तथा लज्जा ने अधिकार कर लिया था। कारण यह था कि स्त्री की जमींदारी हरण करने वाले तथा उसके प्राणप्रिय पति से उसे विच्छेद कराकर इस भाँति दु:ख देने वाले कुन्दनलाल मोहनलाल के ही पिता थे।

गूदड़ साईं

‘साईं! ओ साईं!!’ एक लड़के ने पुकारा। साईं घूम पड़ा। उसने देखा कि 8 वर्ष का बालक उसे पुकार रहा है।

आज कई दिन पर उस मोहल्ले में साईं दिखलाई पड़ा है। साईं वैरागी था—माया नहीं, मोह नहीं, परन्तु कुछ दिनों से उसकी आदत पड़ गई थी कि दोपहर को मोहन के घर जाता, अपने दो-तीन गन्दे गूदड़ यत्न से रखकर उन्हीं पर बैठ जाता और मोहन से बातें करता। जब कभी मोहन उसे गरीब और भिखमंगा जानकर माँ से अभिमान करके पिता की नजर बचाकर कुछ साग-रोटी लाकर दे देता, तब उस साईं के मुख पर पवित्र मैत्री के भावों का साम्राज्य हो जाता। गूदड़ साईं उस समय 10 वर्ष के बालक के समान अभिमान, सराहना और उलाहना के आदान-प्रदान के बाद उसे बड़े चाव से खा लेता; मोहन की दी हुई एक रोटी उसकी अक्षय-तृप्ति का कारण होती।

एक दिन मोहन के पिता ने देख लिया। वह बहुत बिगड़े। वह थे कट्टर आर्यसमाजी। ढोंगी फकीरों पर उनकी साधारण और स्वाभाविक चिढ़ थी। मोहन को डाँटा कि वह इन लोगों के साथ बातें न किया करे। साईं हँस पड़ा, चला गया।

उसके बाद आज कई दिन पर साईं आया और वह जान-बूझकर उस बालक के मकान की ओर नहीं गया; परन्तु पढ़कर लौटते हुए मोहन ने उसे देखकर पुकारा और वह लौट भी आया।

‘मोहन!’

‘तुम आजकल आते नहीं?’

‘तुम्हारे बाबा बिगड़ते थे।’

‘नहीं, तुम रोटी ले जाया करो।’

‘भूख नहीं लगती।’

‘अच्छा, कल जरूर आना; भूलना मत!’

इतने में एक दूसरा लड़का साईं का गूदड़ खींचकर भागा। गूदड़ लेने के लिए साईं उस लड़के के पीछे दौड़ा। मोहन खड़ा देखता रहा, साईं आँखों से ओझल हो गया।

चौराहे तक दौड़ते-दौड़ते साईं को ठोकर लगी, वह गिर पड़ा। सिर से खून बहने लगा। खिझाने के लिए जो लड़का उसका गूदड़ लेकर भागा था, वह डर से ठिठका रहा। दूसरी ओर से मोहन के पिता ने उसे पकड़ लिया, दूसरे हाथ से साईं को पकड़कर उठाया। नटखट लड़के के सिर पर चपत पड़ने लगी; साईं उठकर खड़ा हो गया।

'मत मारो, मत मारो, चोट लगती होगी!' साईं ने कहा—और लड़के को छुड़ाने लगा। मोहन के पिता ने साईं से पूछा—'तब चीथड़े के लिए दौड़ते क्यों थे?'

सिर फटने पर भी जिसको रुलाई नहीं आई थी, वह साईं लड़के को रोते देखकर रोने लगा। उसने कहा—'बाबा, मेरे पास, दूसरी कौन वस्तु है, जिसे देकर इन 'रामरूप' भगवान् को प्रसन्न करता।'

'तो क्या तुम इसीलिए गूदड़ रखते हो?'

'इस चीथड़े को लेकर भागते हैं भगवान् और मैं उनसे लड़कर छीन लेता हूँ; रखता हूँ फिर उन्हीं से छिनवाने के लिए, उनके मनोविनोद के लिए। सोने का खिलौना तो उचक्के भी छीनते हैं पर चीथड़ों पर भगवान् ही दया करते हैं!' इतना कहकर बालक का मुँह पोंछते हुए मित्र के समान गलबाँही डाले हुए साईं चला गया।

मोहन के पिता आश्चर्य से बोले—'गूदड़ साईं! तुम निरे गूदड़ नहीं; गुदड़ी के लाल हो!!'

गुदड़ी में लाल

दीर्घ निश्वासों का क्रीड़ा-स्थल, गर्म-गर्म आँसुओं का फूटा हुआ पात्र! कराल काल की सारंगी, एक बुढ़िया का जीर्ण कंकाल, जिसमें अभिमान की लय में करुणा ही रागिनी बजा करती है।

अभागिनी बुढ़िया, एक भले घर की बहू-बेटी थी। उसे देखकर दयालु वयोवृद्ध, हे भगवान्! कहके चुप हो जाते थे। दुष्ट कहते थे कि अमीरी में बड़ा सुख लूटा है। नवयुवक देशभक्त कहते थे, देश दरिद्र है; खोखला है। अभागे देश में जन्म ग्रहण करने का फल भोगती है। आगामी भविष्य की उज्ज्वलता में विश्वास रखकर हृदय के रक्त पर सन्तोष करे। जिस देश का भगवान् ही नहीं; उसे विपत्ति क्या! सुख क्या!

परन्तु बुढ़िया सबसे यही कहा करती थी—'मैं नौकरी करूँगी। कोई मेरी नौकरी लगा दो।' देता कौन? जो एक घड़ा जल भी नहीं भर सकती, जो स्वयं उठकर सीधी खड़ी नहीं हो सकती थी, उससे कौन काम कराए? किसी की सहायता लेना पसन्द नहीं, किसी की भिक्षा का अन्न उसके मुख में बैठता ही न था। लाचार होकर बाबू रामनाथ ने उसे अपनी दुकान में रख लिया। बुढ़िया की बेटी थी, वह दो पैसे कमाती थी। अपना पेट पालती थी, परन्तु बुढ़िया का विश्वास था कि कन्या का धन खाने से उस जन्म में बिल्ली, गिरगिट और भी क्या-क्या होता है। अपना-अपना विश्वास ही है, परन्तु धार्मिक विश्वास हो या नहीं, बुढ़िया को अपने आत्माभिमान का पूर्ण विश्वास था। वह अटल रही। सर्दी के दिनों में अपने ठिठुरे हुए हाथ से वह अपने लिए पानी भरकर रखती। अपनी बेटी से सम्भवत: उतना ही काम कराती, जितना अमीरी के दिनों में कभी-कभी उसे अपने घर बुलाने पर कराती।

बाबू रामनाथ उसे मासिक वृत्ति देते थे और भी तीन-चार पैसे चबैनी के, जैसे और नौकरों को मिलते थे, मिला करते थे। कई बरस बुढ़िया के बड़ी प्रसन्नता से कटे। उसे न तो दु:ख था और न सुख। दुकान में झाड़ू लगाकर उसकी बिखरी हुई चीजों को बटोरे रहना और बैठे-बैठे थोड़ा-घना जो काम हो करना, बुढ़िया का दैनिक कार्य था। उससे कोई नहीं पूछता

था कि तुमने कितना काम किया। दुकान के और कोई नौकर यदि दुष्टता-वश उसे छेड़ते भी थे, तो रामनाथ उन्हें डाँट देता था।

बसन्त, वर्षा, शरद और शिशिर की संध्या में जब विश्व की वेदना, जगत् की थकावट, धूसर चादर में मुँह लपेटकर क्षितिज के नीरव प्रान्त में सोने जाती थी; बुढ़िया अपनी कोठरी में लेटी रहती। अपनी कमाई के पैसे से पेट भरकर, कठोर पृथ्वी की कोमल रोमावली के समान हरी-हरी दूब पर भी लेटे रहना। किसी-किसी के सुखों की संख्या है, वह सबको प्राप्त नहीं। बुढ़िया धन्य हो जाती थी, उसे सन्तोष होता।

एक दिन उस दुर्बल, दीन बुढ़िया को बनिए की दुकान में लाल मिर्चें फटकनी पड़ीं। बुढ़िया ने किस-किस कष्ट से उसे सँवारा, परन्तु उसकी तीव्रता वह सहन न कर सकी। उसे मूर्च्छा आ गई। रामनाथ ने देखा और देखा अपने कठोर ताँबे के पैसे की ओर। उसके हृदय ने धिक्कारा, परन्तु अन्तरात्मा ने ललकारा। उस बनिया रामनाथ को साहस हो गया। उसने सोचा, क्या इस बुढ़िया को 'पेन्शन' नहीं दे सकता? क्या उसके पास इतना अभाव है? अवश्य दे सकता है। उसने मन में निश्चय किया। 'तुम बहुत थक गई हो, अब तुमसे काम नहीं हो सकता।' बुढ़िया के देवता कूच कर गए। उसने कहा—'नहीं-नहीं, अभी तो मैं अच्छी तरह काम कर लेती हूँ।' 'नहीं, अब तुम काम करना बन्द कर दो, मैं तुमको घर बैठे दिया करूँगा।'

'नहीं बेटा! अभी तुम्हारा काम मैं अच्छा-भला किया करूँगी।' बुढ़िया के गले में काँटे पड़ गए थे। किसी सुख की इच्छा से नहीं, पेन्शन के लोभ से भी नहीं। उसके मन में धक्का लगा। वह सोचने लगी—'मैं बिना किसी काम किए इसका पैसा कैसे लूँगी? क्या यह भीख नहीं?' आत्माभिमान झनझना उठा। हृदयतन्त्री के तार कड़े होकर चढ़ गए। रामनाथ ने मधुरता से कहा—'तुम घबराओ मत, तुमको कोई कष्ट न होगा।'

बुढ़िया चली आई। उसकी आँखों में आँसू न थे। आज वह सूखे काठ-सी हो गई। घर जाकर बैठी, कोठरी में अपना सामान एक ओर सुधारने लगी। बेटी ने कहा—'माँ, यह क्या करती हो?'

माँ ने कहा—'चलने की तैयारी।'

रामनाथ अपने मन में अपनी प्रशंसा कर रहा था, अपने को धन्य समझता था। उसने समझ लिया कि हमने आज एक अच्छा काम करने का संकल्प किया है। भगवान् इससे अवश्य प्रसन्न होंगे।

बुढ़िया अपनी कोठरी में बैठी-बैठी विचारती थी, 'जीवन भर के संचित इस अभिमान-धन को एक मुट्ठी अन्न की भिक्षा पर बेच देना होगा। असह्य! भगवान् क्या मेरा इतना सुख भी नहीं देख सकते! उन्हें सुनना होगा।' वह प्रार्थना करने लगी।

'इस अनन्त ज्वालामयी सृष्टि के कर्त्ता! क्या तुम्हीं करुणा-निधान हो? क्या इसी डर से तुम्हारा अस्तित्व माना जाता है? अभाव, आशा, असन्तोष और आर्त्तनादों के आचार्य! क्या तुम्हीं दीनानाथ हो? तुम्हीं ने वेदना का विषम जाल फैलाया है? तुम्हीं ने निष्ठुर दुःखों को सहने के लिए मानव हृदय-सा कोमल पदार्थ चुना है और उसे विचारने के लिए, स्मरण करने के लिए दिया है अनुभवशील मस्तिष्क? कैसी कठोर कल्पना है, निष्ठुर! तुम्हारी कठोर

करुणा की जय हो! मैं चिर पराजित हूँ।’

सहसा बुढ़िया के शीर्ण मुख पर कान्ति आ गई। उसने देखा, एक स्वर्गीय ज्योति बुला रही है। वह हँसी, फिर शिथिल होकर लेटी रही।

रामनाथ ने दूसरे ही दिन सुना कि बुढ़िया चली गई। वेदना-क्लेश-हीन अक्षयलोक में उसे स्थान मिल गया। उस महीने की पेन्हान से उसका दाह-कर्म करा दिया। फिर एक दीर्घ निश्वास छोड़कर बोला, ‘अमीरी की बाढ़ में न जाने कितनी वस्तु कहाँ से आकर एकत्र हो जाती हैं बहुतों के पास उस बाढ़ के घट जाने पर केवल कुर्सी कोच और टूटे गहने रह जाते हैं, परन्तु बुढ़िया के पास रह गया था सच्चा स्वाभिमान—गुदड़ी का लाल।’

शरणागत

प्रभात-कालीन सूर्य की किरणें अभी पूर्व के आकाश में नहीं दिखाई पड़ती हैं। तारों का क्षीण प्रकाश अभी अम्बर में विद्यमान है। यमुना के तट पर दो-तीन रमणियाँ खड़ी हैं; और दो—यमुना की उन्हीं क्षीण लहरियों में, जो कि चन्द्र के प्रकाश से रंचित हो रही हैं—स्नान कर रही हैं। अकस्मात् पवन बड़े वेग से चलने लगा। इसी समय एक सुन्दरी, जो कि बहुत ही सुकुमारी थी, उन्हीं तरंगों में निमग्न हो गई। दूसरी, जो कि घबड़ाकर निकलना चाहती थी, किसी काठ का सहारा पाकर तट की ओर खड़ी हुई अपनी सखियों में जा मिली, पर वहाँ सुकुमारी नहीं थी। सब रोती हुई यमुना के तट पर घूमकर उसे खोजने लगीं।

अंधकार हट गया। अब सूर्य भी दिखाई देने लगा। कुछ ही देर में उन्हें, घबड़ाई हुई स्त्रियों को आश्वासन देती हुई, एक छोटी-सी नाव दिखाई दी। उन सखियों ने देखा कि वह सुकुमारी उसी नाव पर एक अंग्रेज़ और एक लेडी के साथ बैठी हुई है।

तट पर आने पर मालूम हुआ कि सिपाही-विद्रोह की गड़बड़ से भागे हुए एक सम्भ्रान्त योरोपियन-दम्पती उस नौका के आरोही हैं। उन्होंने सुकुमारी को डूबते हुए बचाया है और इसे पहुँचाने के लिए वे लोग यहाँ तक आए हैं।

सुकुमारी को देखते ही सब सखियों ने दौड़कर उसे घेर लिया और उससे लिपट-लिपटकर रोने लगीं। अंग्रेज़ और लेडी दोनों ने जाना चाहा, पर वे स्त्रियाँ कब मानने वाली थीं? लेडी साहिबा को रुकना पड़ा। थोड़ी देर में यह खबर फैल जाने से उस गाँव के जमींदार ठाकुर किशोर सिंह भी उस स्थान पर आ गए। अब, उनके अनुरोध करने से, विल्फर्ड और एलिस को उनका आतिथ्य स्वीकार करने के लिए विवश होना पड़ा, क्योंकि सुकुमारी, किशोर सिंह की ही स्त्री थी, जिसे उन लोगों ने बचाया था।

चन्दनपुर के जमींदार के घर में, जो यमुना-तट पर बना हुआ है, पाईं- बाग के भीतर, एक रविश में चार कुर्सियाँ पड़ी हैं। एक पर किशोर सिंह और दो कुर्सियों पर विल्फर्ड और एलिस बैठे हैं तथा चौथी कुर्सी के सहारे सुकुमारी खड़ी है। किशोर सिंह मुस्करा रहे हैं और

एलिस आश्चर्य की दृष्टि से सुकुमारी को देख रही है। विल्फर्ड उदास हैं और सुकुमारी मुख नीचा किए हुए है। सुकुमारी ने कनखियों से किशोर सिंह की ओर देखकर सिर झुका लिया।

एलिस—(किशोर सिंह से) बाबू साहब, आप इन्हें बैठने की इजाजत दें।

किशोर सिंह—मैं क्या मना करता हूँ?

एलिस—(सुकुमारी को देखकर) फिर वह क्यों नहीं बैठतीं?

किशोर सिंह—आप कहिए, शायद बैठ जाएँ।

विल्फर्ड—हाँ, आप क्यों खड़ी हैं?

बेचारी सुकुमारी लज्जा से गड़ी जाती थी।

एलिस—(सुकुमारी की ओर देखकर) अगर आप न बैठेंगी, तो मुझे बहुत रंज होगा।

किशोर सिंह—यों न बैठेंगी, हाथ पकड़कर बिठाइए।

एलिस सचमुच उठी, पर सुकुमारी एक बार किशोर सिंह की ओर वक्र दृष्टि से देखकर हँसती हुई पास की बारहदरी में भागकर चली गई, किन्तु एलिस ने पीछा न छोड़ा। वह भी वहाँ पहुँची और उसे पकड़ा। सुकुमारी एलिस को देख गिड़गिड़ाकर बोली—क्षमा कीजिए, हम लोग पति के सामने कुर्सी पर नहीं बैठतीं और न कुर्सी पर बैठने का अभ्यास ही है।

एलिस चुपचाप खड़ी रह गई, वह सोचने लगी कि—क्या सचमुच पति के सामने कुर्सी पर न बैठना चाहिए! फिर उसने सोचा—वह बेचारी जानती ही नहीं कि कुर्सी पर बैठने में क्या सुख है।

चन्दनपुर के जमींदार के यहाँ आश्रय लिए हुए योरोपियन-दम्पती सब प्रकार सुख से रहने पर भी सिपाहियों का अत्याचार सुनकर शंकित रहते थे। दयालु किशोर सिंह यद्यपि उन्हें बहुत आश्वासन देते, तो भी कोमल प्रकृति की सुन्दरी एलिस सदा भयभीत रहती थी।

दोनों दम्पती कमरे में बैठे हुए यमुना का सुन्दर जल-प्रवाह देख रहे हैं। विचित्रता यह है कि 'सिगार' न मिल सकने के कारण विल्फर्ड साहब सटक के सड़ाके लगा रहे हैं। अभ्यास न होने के कारण सटक से उन्हें बड़ी अड़चन पड़ती थी, तिस पर सिपाहियों के अत्याचार का ध्यान उन्हें और भी उद्विग्न किए हुए था; क्योंकि एलिस का भय से पीला मुख उनसे देखा न जाता था।

इतने में बाहर कोलाहल सुनाई पड़ा। एलिस के मुख से 'ओ माई गॉड' निकल पड़ा और भय से वह मूर्च्छित हो गई। विल्फर्ड और किशोर सिंह ने एलिस को पलंग पर लिटाया और आप 'बाहर क्या है' सो देखने के लिए चले।

विल्फर्ड ने अपनी राइफल हाथ में ली और साथ में जाना चाहा, पर किशोर सिंह ने उन्हें समझाकर बैठाया और आप खूँटी पर लटकती तलवार लेकर बाहर निकल गए।

किशोर सिंह बाहर आ गए, देखा तो पाँच कोस पर जो उनका सुन्दरपुर ग्राम है, उसे सिपाहियों ने लूट लिया और प्रजा दुःखी होकर अपने जमींदार से अपनी दुःख गाथा सुनाने आई है। किशोर सिंह ने सबको आश्वासन दिया और उनके खाने-पीने का प्रबन्ध करने के

लिए कर्मचारियों को आज्ञा देकर आप, विल्फर्ड और एलिस को देखने के लिए भीतर चले आए।

किशोर सिंह स्वाभाविक दयालु थे और उनकी प्रजा उन्हें पिता के समान मानती थी और उनका उस प्रान्त में भी बड़ा सम्मान था। वह बहुत बड़े इलाकेदार होने के कारण छोटे-से राजा समझे जाते थे। उनका प्रेम सब पर बराबर था, किन्तु विल्फर्ड और सरला एलिस को भी बहुत चाहने लगे, क्योंकि प्रियतमा सुकुमारी की उन लोगों ने प्राण-रक्षा की थी।

किशोर सिंह भीतर आए। एलिस को देखकर कहा—डरने की कोई बात नहीं है। यह मेरी प्रजा थी, समीप के सुन्दरपुर गाँव में वे सब रहते हैं। उन्हें सिपाहियों ने लूट लिया है। उनका बन्दोबस्त कर दिया गया है। अब उन्हें कोई तकलीफ नहीं।

एलिस ने लम्बी साँस लेकर आँखें खोल दीं, और कहा—क्या वे सब गए?

सुकुमारी—घबराओ मत, हम लोगों के रहते तुम्हारा कोई अनिष्ट नहीं हो सकता।

विल्फर्ड—क्या सिपाही रियासतों को लूट रहे हैं।

किशोर सिंह—हाँ, पर अब कोई डर नहीं है, वे लूटते हुए इधर से निकल गए।

विल्फर्ड—अब हमको कुछ डर नहीं है।

किशोर सिंह—आपने क्या सोचा?

विल्फर्ड—अब ये सब अपने भाइयों को लूटते हैं, तो शीघ्र ही अपने अत्याचार का फल पायेंगे और इनका किया कुछ न होगा।

किशोर सिंह ने गम्भीर होकर कहा—ठीक है।

एलिस ने कहा—मैं आज आप लोगों के संग भोजन करूंगी।

किशोर सिंह और सुकुमारी एक-दूसरे का मुख देखने लगे। फिर किशोर सिंह ने कहा—बहुत अच्छा।

साफ दालान में दो कम्बल अलग-अलग दूरी पर बिछा दिए गए हैं। एक पर किशोर सिंह बैठे थे और दूसरे पर विल्फर्ड और एलिस; पर एलिस की दृष्टि बार-बार सुकुमारी को खोज रही थी और वह बार-बार यही सोच रही थी कि किशोर सिंह के साथ सुकुमारी अभी नहीं बैठी।

थोड़ी देर में भोजन आया, पर खानसामा नहीं, स्वयं सुकुमारी एक थाल लिए है और तीन-चार औरतों के हाथों में भी खाद्य और पेय वस्तुएँ हैं। किशोर सिंह के इशारा करने पर सुकुमारी ने वह थाल एलिस के सामने रखा और इसी तरह विल्फर्ड और किशोर सिंह को परोस दिया गया, पर किसी ने भोजन आरम्भ नहीं किया।

एलिस ने सुकुमारी से कहा—आप क्या यहाँ भी न बैठेंगी? क्या यहाँ भी कुर्सी है?

सुकुमारी—परोसेगा कौन?

एलिस—खानसामा।

सुकुमारी—क्यों, क्या मैं नहीं हूँ?

किशोर सिंह—जिद न कीजिए, यह हमारे भोजन कर लेने पर भोजन करती हैं।

एलिस ने आश्चर्य और उदासी-भरी एक दृष्टि सुकुमारी पर डाली। एलिस को भोजन कैसा लगा, सो नहीं कहा जा सकता।

भारत में शान्ति स्थापित हो गई है। अब विल्फर्ड और एलिस अपनी नील की कोठी पर वापस जाने वाले हैं। चन्दनपुर में उन्हें बहुत दिन रहना पड़ा। नील कोठी वहाँ से दूर है।

दो घोड़े सजे-सजाए खड़े हैं और किशोर सिंह के आठ सशस्त्र सिपाही उनको पहुँचाने के लिए उपस्थित हैं। विल्फर्ड साहब किशोर सिंह से बातचीत करके छुट्टी पा चुके हैं। केवल एलिस अभी तक भीतर से नहीं आई। उन्हीं के आने की देर है।

विल्फर्ड और किशोर सिंह पाईं-बाग में टहल रहे थे। इतने में आठ स्त्रियों का झुण्ड मकान से बाहर निकला। हैं! यह क्या? एलिस ने अपना गाउन नहीं पहना, उसके बदले फीरोजी रंग के रेशमी कपड़े का कामदानी लहँगा और मखमल की कंचुकी, जिसके सितारे रेशमी ओढ़नी के ऊपर से चमक रहे हैं। हैं! यह क्या? स्वाभाविक अरुण अधरों में पान की लाली भी है, आँखों में काजल की रेखा भी है, चोटी फूलों से गूँथी जा चुकी है और मस्तक में सुन्दर-सा बालअरुण का बिन्दु भी तो है!

देखते ही किशोर सिंह खिलखिलाकर हँस पड़े और विल्फर्ड तो भौंचक्के-से रह गए।

किशोर सिंह ने एलिस से कहा—आपके लिए भी घोड़ा तैयार है, पर सुकुमारी ने कहा —नहीं, इनके लिए पालकी मँगा दो।

रसिया बालम

संसार को शान्तिमय करने के लिए रजनी देवी ने अभी अपना अधिकार पूर्णत: नहीं प्राप्त किया है। अंशुमाली अभी अपने आधे बिम्ब को प्रतीची में दिखा रहे हैं। केवल एक मनुष्य अर्बुद-गिरि-सुदृढ़ दुर्ग के नीचे एक झरने के तट पर बैठा हुआ उस अर्ध-स्वर्ण पिण्ड की ओर देखता है और कभी-कभी दुर्ग के ऊपर राजमहल की खिड़की की ओर भी देख लेता है, फिर कुछ गुनगुनाने लगता है।

घण्टों उसे वैसे ही बैठे बीत गए। कोई कार्य नहीं, केवल उसे उस खिड़की की ओर देखना। अकस्मात् एक उजाले की प्रभा उस नीची पहाड़ी भूमि पर पड़ी और साथ ही किसी वस्तु का शब्द भी हुआ, परन्तु उस युवक का ध्यान उस ओर नहीं था। वह तो उस खिड़की में के सुन्दर मुख की ओर देखने की आशा से उसी ओर देखता रहा, जिसने केवल एक बार उसे झलक दिखाकर मन्त्रमुग्ध कर दिया था।

इधर उस कागज में लिपटी हुई वस्तु को एक अपरिचित व्यक्ति, जो छिपा खड़ा था, उठाकर चलता हुआ। धीरे-धीरे रजनी की गम्भीरता उस शैल-प्रदेश में और भी गम्भीर हो गई और झाड़ियों में तो अँधकार मूर्तिमान हो बैठा हुआ ज्ञात होता था, परन्तु उस युवक को इसकी कुछ भी चिन्ता नहीं। और जब तक उस खिड़की में प्रकाश था, तब तक वह उसी ओर निर्निमेष देख रहा था और कभी-कभी अस्फुट स्वर से वह गुनगुनाहट उसके मुख से वनस्पतियों को सुनाई पड़ती थी।

जब वह प्रकाश बिल्कुल न रहा, तब वह युवक उठा और समीप के झरने के तट से होते हुए उसी अँधकार में विलीन हो गया।

दिवाकर की पहली किरण ने जब चमेली की कलियों को चटकाया, तब उन डालियों को उतना ही ज्ञात हुआ, जितना कि एक युवक के शरीर स्पर्श से उन्हें हिलना पड़ा, जो कि काँटे

और झाड़ियों का कुछ भी ध्यान न करके सीधा अपने मार्ग का अनुसरण कर रहा था। वह युवक फिर उसी खिड़की के सामने पहुँचा और जाकर अपने पूर्व-परिचित शिलाखण्ड पर बैठ गया और पुन: वही क्रिया आरम्भ हुई। धीरे-धीरे एक सैनिक पुरुष ने आकर उस युवक के कन्धे पर अपना हाथ रखा।

युवक चौंक उठा और क्रोधित होकर बोला—तुम कौन हो?

आगन्तुक हँस पड़ा और बोला—यही तो मेरा भी प्रश्न है कि तुम कौन हो? और क्यों इस अन्तःपुर की खिड़की के सामने बैठे हो और तुम्हारा क्या अभिप्राय है?

युवक—मैं यहाँ घूमता हूँ और यहीं मेरा मकान है। मैं जो यहाँ बैठा हूँ, मित्र! वह बात यह है कि मेरा एक मित्र इसी प्रकोष्ठ में रहता है; मैं कभी-कभी उसका दर्शन पा जाता हूँ और अपने चित्त को प्रसन्न करता हूँ।

सैनिक—पर मित्र! तुम नहीं जानते कि यह राजकीय अन्तःपुर है, तुम्हें ऐसे देखकर तुम्हारी क्या दशा हो सकती है? और महाराज तुम्हें क्या समझेंगे?

युवक—जो कुछ हो; मेरा कुछ असत् अभिप्राय नहीं है, मैं तो केवल सुन्दर रूप का दर्शन ही निरन्तर चाहता हूँ और यदि महाराज भी पूछें तो यही कहूँगा।

सैनिक—तुम जिसे देखते हो, वह स्वयं राजकुमारी है और तुम्हें कभी नहीं चाहती। अतएव तुम्हारा यह प्रयास व्यर्थ है।

युवक—क्या वह राजकुमारी है? तो चिन्ता क्या! मुझे तो केवल देखना है; मैं बैठे-बैठे देखा करूँगा, पर तुम्हें यह कैसे मालूम कि वह मुझे नहीं चाहती?

सैनिक—प्रमाण चाहते हो तो (एक पत्र देकर) यह देखो!

युवक उसे लेकर पढ़ता है। उसमें लिखा था—

"युवक!

तुम क्यों अपना समय व्यर्थ व्यतीत करते हो? मैं तुमसे कदापि नहीं मिल सकती। क्यों महीनों से यहाँ बैठे-बैठे अपना शरीर नष्ट कर रहे हो, मुझे तुम्हारी अवस्था देखकर दया आती है। अत: तुमको सचेत करती हूँ, फिर कभी यहाँ मत बैठना।

वही

जिसे तुम देखा करते हो!"

युवक कुछ देर के लिए स्तम्भित हो गया। सैनिक सामने खड़ा था। अकस्मात् युवक उठकर खड़ा हो गया और सैनिक का हाथ पकड़कर बोला—मित्र! तुम हमारा कुछ उपकार कर सकते हो? यदि करो, तो कुछ विशेष परिश्रम न होगा।

सैनिक—कहो, क्या है? यदि हो सकेगा, तो अवश्य करूँगा।

तत्काल उस युवक ने अपनी उँगली एक पत्थर से कुचल दी और अपने फटे वस्त्र में से एक टुकड़ा फाड़कर तिनका लेकर उसी रक्त में टुकड़े पर कुछ लिखा, और उस सैनिक के हाथ में देकर कहा—यदि हम न रहें, तो इसको उस निष्ठुर के हाथ में दे देना। बस और कुछ

नहीं।

इतना कहकर युवक ने पहाड़ी पर से कूदना चाहा; पर सैनिक ने उसे पकड़ लिया, और कहा—रसिया! ठहरो!

युवक अवाक् हो गया; क्योंकि अब पाँच प्रहरी सैनिक के सामने सिर झुकाए खड़े थे और पूर्व सैनिक स्वयं अर्बुदगिरि के महाराज थे।

महाराज आगे हुए और सैनिकों के बीच में रसिया। सब सिंहद्वार की ओर चले। किले के भीतर पहुँचकर रसिया को साथ में लिए हुए महाराज एक प्रकोष्ठ में पहुँचे। महाराज ने प्रहरी को आज्ञा दी कि महारानी और राजकुमारी को बुला लाओ। वह प्रणाम कर चला गया।

महाराज—क्यों बलवन्त सिंह! तुमने अपनी यह क्या दशा बना रखी है?

रसिया—(चौंककर) महाराज को मेरा नाम कैसे ज्ञात हुआ?

महाराज—बलवन्त! मैं बचपन से तुम्हें जानता हूँ और तुम्हारे पूर्व पुरुषों को भी जानता हूँ।

रसिया चुप हो गया। इतने में महारानी भी राजकुमारी को साथ लिए हुए आ गईं।

महारानी ने प्रणाम कर पूछा—क्या आज्ञा है?

महाराज—बैठो, कुछ विशेष बात है। सुनो और ध्यान से उत्तर दो। यह युवक जो तुम्हारे सामने बैठा है, एक उत्तम क्षत्रिय कुल का है और मैं इसे जानता हूँ। यह हमारी राजकुमारी के प्रणय का भिखारी है। मेरी इच्छा है कि इससे उसका ब्याह हो जाए।

राजकुमारी, जिसने कि आते ही युवक को देख लिया था और जो संकुचित होकर इस समय महारानी के पीछे खड़ी थी, यह सुनकर और भी संकुचित हुई, पर महारानी का मुख क्रोध से लाल हो गया। वह कड़े स्वर में बोली—क्या आपको खोजते-खोजते मेरी कुसुम-कुमारी कन्या के लिए यही वर मिला है? वाह! अच्छा जोड़ मिलाया। कंगाल और उसके लिए निधि; बन्दर और उसके गले में हार; भला यह भी कहीं सम्भव है? आप शीघ्र ही अपने भ्रान्तिरोग की औषधि कर डालिए। यह भी कैसा परिहास है! (कन्या से) चलो बेटी, यहाँ से चलो।

महाराज—नहीं, ठहरो और सुनो। यह स्थिर हो चुका है कि राजकुमारी का ब्याह बलवन्त से होगा, तुम इसे परिहास मत जानो।

अब जो महारानी ने महाराज के मुख की ओर देखा, तो वह दृढ़प्रतिज्ञ दिखाई पड़े। निदान विचलित होकर महारानी ने कहा—अच्छा, मैं भी प्रस्तुत हो जाऊंगी, पर इस शर्त पर कि जब यह पुरुष अपने बाहुबल से उस झरने के समीप से नीचे तक एक पहाड़ी रास्ता काटकर बना ले, उसके लिए समय अभी से केवल प्रातःकाल तक का देती हूँ—जब तक कि कुक्कुट का स्वर सुनाई न पड़े। तब अवश्य मैं भी राजकुमारी का ब्याह इसी से कर दूँगी।

महाराज ने युवक की ओर देखा, जो कि निस्तब्ध बैठा हुआ सुन रहा था। वह उसी क्षण उठा और बोला—मैं प्रस्तुत हूँ, पर कुछ औजार और मसाले के लिए थोड़े विष की आवश्यकता है।

उसकी आज्ञानुसार सब वस्तुएँ उसे मिल गईं और वह शीघ्रता से उसी झरने की ओर

दौड़ा और एक विशाल शिलाखण्ड पर जाकर बैठ गया और उसे तोड़ने का उद्योग करने लगा; क्योंकि इसी के नीचे एक गुप्त पहाड़ी पथ था।

निशा का अँधकार कानन प्रदेश में अपना पूरा अधिकार जमाए हुए है। प्राय: आधी रात बीत चुकी है, पर केवल उन अग्नि-स्फुर्लिंगों से कभी-कभी थोड़ा-सा जुगनू का प्रकाश हो जाता है, जो कि रसिया के शस्त्र-प्रहार से पत्थर में से निकल पड़ते हैं। दनादन चोट चली जा रही है —विराम नहीं है क्षण भर भी—न तो उस शैल को और न उस शस्त्र को। अलौकिक शक्ति से वह युवक अविराम चोट लगाए ही जा रहा है। एक क्षण के लिए भी इधर-उधर नहीं देखता। देखता है, तो केवल अपना हाथ और पत्थर; उँगली एक तो पहले ही कुचली जा चुकी थी, दूसरे अविराम परिश्रम! इससे रक्त बहने लगा था, पर विश्राम कहाँ? उस वज्रसार शैल पर वज्र के समान कर से वह युवक चोट लगाए ही जाता है। केवल परिश्रम ही नहीं, युवक सफल भी हो रहा है। उसकी एक-एक चोट में दस-दस सेर के ढोके कट-कटकर पहाड़ पर से लुढ़कते हैं, जो सोए हुए जंगली पशुओं को घबड़ा देते हैं। यह क्या है? केवल उसकी तन्मयता, केवल प्रेम ही उस पाषाण को भी तोड़े डालता है।

फिर वही दनादन—बराबर लगातार परिश्रम, विराम नहीं है! इधर उस खिड़की में से आलोक भी निकल रहा है और कभी-कभी एक मुखड़ा उस खिड़की से झाँककर देख रहा है, पर युवक को कुछ ध्यान नहीं, वह अपना कार्य करता जा रहा है।

अभी रात्रि के जाने के लिए पहर-भर है। शीतल वायु उस कानन को शीतल कर रही है। अकस्मात् 'तरुण-कुक्कुट-कंठनाद' सुनाई पड़ा, फिर कुछ नहीं। वह कानन एकाएक शून्य हो गया। न तो वह शब्द ही है और न तो पत्थरों से अग्नि-स्फुर्लिंग निकलते हैं।

अकस्मात् उस खिड़की में से एक सुन्दर मुख निकला। उसने आलोक डालकर देखा कि रसिया एक पात्र हाथ में लिए है और कुछ कह रहा है। इसके उपरान्त वह उस पात्र को पी गया और थोड़ी देर में वह उसी शिलाखण्ड पर गिर पड़ा। यह देख उस मुख से भी एक हल्का चीत्कार निकल गया। खिड़की बन्द हो गई। फिर केवल अँधकार रह गया।

प्रभात का मलय-मारुत उस अर्बुदगिरि के कानन में वैसी क्रीड़ा नहीं कर रहा है, जैसी पहले करता था। दिवाकर की किरण भी कुछ प्रभात के मिस से मंद और मलिन हो रही है। एक शव के समीप एक पुरुष खड़ा है और उसकी आँखों से अश्रुधारा बह रही है और वह कह रहा है—बलवन्त! ऐसी शीघ्रता क्या थी, जो तुमने ऐसा किया? यह अर्बुदगिरि का प्रदेश तो कुछ समय में यह वृद्ध तुम्हीं को देता और तुम उसमें चाहे जिस स्थान पर अच्छे पर्यंक पर सोते। फिर, ऐसे क्यों पड़े हो? वत्स! यह तो केवल तुम्हारी परीक्षा[1] यह तुमने क्या किया?

इतने में एक सुन्दरी विमुक्त-कुन्तला, जो कि स्वयं राजकुमारी थी, दौड़ी हुई आई और

शव को देखकर ठिठक गई, नतजानु होकर उस पुरुष का, जो कि महाराज थे और जिसे इस समय तक राजकुमारी पहचान न सकी थी—चरण धरकर बोली—महात्मन्! क्या व्यक्ति ने; जो यहाँ पड़ा है, मुझे कुछ देने के लिए आपको दिया है? या कुछ कहा है?

महाराज ने चुपचाप अपने वस्त्र में से एक वस्त्र का टुकड़ा निकालकर दे दिया। उस पर लाल अक्षरों में कुछ लिखा था। उस सुन्दरी ने उसे देखा और देखकर कहा—कृपया आप ही पढ़ दीजिए।

महाराज ने उसे पढ़ा। उसमें लिखा था—"मैं नहीं जानता था कि तुम इतनी निठुर हो। अस्तु; अब मैं नहीं रहूंगा; पर याद रखना; मैं तुमसे अवश्य मिलूँगा, क्योंकि मैं तुम्हें नित्य देखना चाहता हूँ, और ऐसे स्थान से देखूँगा, जहाँ कभी पलक गिरती ही नहीं।

—तुम्हारा दर्शनाभिलाषी
रसिया"

इसी समय महाराज को सुन्दरी पहचान गई, और फिर चरण धरकर बोली—पिताजी, क्षमा करना और शीघ्रतापूर्वक रसिया के कर-स्थित पात्र को लेकर अवशेष पी गई और गिर पड़ी। केवल उसके मुख से इतना निकला—"पिताजी, क्षमा करना।" महाराज देख रहे थे!

---

1. वास्तव में वह शब्द कुक्कुट का नहीं, बल्कि छद्म वेशिनी महारानी का था जो कि बलवन्त सिंह जैसे दीन व्यक्ति से अपनी कुसुमकुमारी के पाणि-ग्रहण की अभिलाषा नहीं रखती थीं। किन्तु महाराज इससे अनभिज्ञ थे।

मदन-मृणालिनी

विजयादशमी का त्योहार समीप है, बालक लोग नित्य रामलीला होने से आनन्द में मग्न हैं।

हाथ में धनुष और तीर लिए एक छोटा-सा बालक रामचन्द्र बनने की तैयारी में लगा हुआ है। चौदह वर्ष का बालक बहुत ही सरल और सुन्दर है।

खेलते-खेलते बालक को भोजन की याद आई। फिर कहाँ राम बनना और कहाँ रामलीला। चट धनुष फेंककर दौड़ता हुआ माता के पास जा पहुँचा और उस ममता-मोहमयी माता के गले से लिपटकर—माँ! खाने को दे, माँ! खाने को दे—कहता हुआ जननी के चित्त को आनन्दित करने लगा।

जननी बालक का मचलना देखकर प्रसन्न हो रही थी और थोड़ी देर तक बैठी रहकर और भी मचलना देखना चाहती थी। उसके यहाँ एक पड़ोसन बैठी थी, अतएव वह एकाएक उठकर बालक को भोजन देने में असमर्थ थी। सहज ही असन्तुष्ट हो जानेवाली पड़ोस की स्त्रियों का सहज क्रोधमय स्वभाव किसी से छिपा न होगा। यदि वह तत्काल उठकर चली जाती, तो पड़ोसिन क्रुद्ध होती। अत: वह उठकर बालक को भोजन देने में आनाकानी करने लगी। बालक का मचलना और भी बढ़ चला। धीरे-धीरे वह क्रोधित हो गया, दौड़कर अपनी कमान उठा लाया; तीर चढ़ाकर पड़ोसिन को लक्ष्य किया और कहा—तू यहाँ से जा, नहीं तो मैं मारता हूँ।

दोनों स्त्रियाँ केवल हंसकर उसको मना करती रहीं। अकस्मात् वह तीर बालक के हाथ से छूट पड़ा और पड़ोसिन की गर्दन में धँस गया! अब क्या था, वह अर्जुन और अश्वत्थामा का पाशुपतास्त्र हो गया। बालक की माँ बहुत घबरा गई, उसने अपने हाथ से तीर निकाला, उसके रक्त को धोया, बहुत ढाँढस दिया, किन्तु घायल स्त्री का चिल्लाना-कराहना सहज में थमने वाला नहीं था।

बालक की माँ विधवा थी, कोई उसका रक्षक न था। जब उसका पति जीता था, तब

तक उसका संसार अच्छी तरह चलता था, अब जो कुछ पूंजी बच रही थी, उसी में वह अपना समय बिताती थी। ज्यों-त्यों करके उसने चिर-संरक्षित धन में से पचीस रुपये उस घायल स्त्री को दिए।

वह स्त्री किसी से यह बात न कहने का वादा करके अपने घर गई, परन्तु बालक का पता नहीं, वह डर के मारे घर से निकल किसी ओर भाग गया।

माता ने समझा कि पुत्र कहीं डर से छिपा होगा, शाम तक आ जाएगा। धीरे-धीरे संध्या-पर-संध्या, सप्ताह-पर-सप्ताह, मास-पर-मास बीतने लगे; परन्तु बालक का कहीं पता नहीं। शोक से माता का हृदय जर्जर हो गया, वह चारपाई पर लग गई। चारपाई ने भी उसका ऐसा अनुराग देखकर उसे अपना लिया और फिर वह उस पर से न उठ सकी। बालक को अब कौन पूछने वाला है!

कलकत्ता-महानगरी के विशाल भवनों तथा राजमार्गों को आश्चर्य से देखता हुआ एक बालक एक सुसज्जित भवन के सामने खड़ा है। महीनों कष्ट झेलता, राह चलता, थकता हुआ बालक यहाँ पहुँचा है।

बालक थोड़ी देर तक यही सोचता था कि अब मैं क्या करूं, किससे अपने कष्ट की कथा कहूँ। इतने में वहाँ धोती-कमीज पहने हुए एक सभ्य बंगाली महाशय का आगमन हुआ।

उस बालक की चौड़ी हड्डी, सुडौल बदन और सुन्दर चेहरा देखकर बंगाली महाशय रुक गए और उसे एक विदेशी समझकर पूछने लगे—

—तुम्हारा मकान कहाँ है?

—ब...में।

—तुम यहाँ कैसे आए?

—भागकर।

—नौकरी करोगे?

—हाँ।

—अच्छा, हमारे साथ चलो।

बालक ने सोचा कि सिवा काम के और क्या करना है, तो फिर इनके साथ ही उचित है। कहा—अच्छा, चलिए।

बंगाली महाशय उस बालक को घुमाते-फिराते एक मकान के द्वार पर पहुँचे। दरबान ने उठकर सलाम किया। वह बालक सहित एक कमरे में पहुँचे, जहाँ एक नवयुवक बैठा हुआ कुछ लिख रहा था, सामने बहुत से कागज इधर-उधर बिखरे पड़े थे।

युवक ने बालक को देखकर पूछा—बाबूजी, यह बालक कौन है?

—यह नौकरी करेगा, तुमको एक आदमी की जरूरत थी ही, सो इसको हम लिवा लाए हैं, अपने साथ रखो—बाबूजी यह कहकर घर के दूसरे भाग में चले गए थे।

युवक के कहने पर बालक भी अचकचाता हुआ बैठ गया। उनमें इस तरह बातें होने लगीं—

युवक—क्यों जी, तुम्हारा नाम क्या है?

बालक—(कुछ सोचकर) मदन।

युवक—नाम तो बड़ा अच्छा है। अच्छा, कहो, तुम क्या खाओगे? रसोई बनाना जानते हो?

बालक—रसोई बनाना तो नहीं जानते। हाँ, कच्ची-पक्की जैसी हो, बनाकर खा लेते हैं, किन्तु...

—अच्छा संकोच करने की कोई जरूरत नहीं है—इतना कहकर युवक ने पुकारा—कोई है?

एक नौकर दौड़कर आया—हुजूर, क्या हुक्म है?

युवक ने कहा—इनको भोजन कराने को ले जाओ।

भोजन के उपरान्त बालक युवक के पास आया। युवक ने एक घर दिखाकर कहा कि उस सामने की कोठरी में सोओ और उसे अपने रहने का स्थान समझो।

युवक की आज्ञा के अनुसार बालक उस कोठरी में गया, देखा तो एक साधारण-सी चौकी पड़ी है; एक घड़े में जल, लोटा और गिलास भी रखा हुआ है। वह चुपचाप चौकी पर लेट गया।

लेटने पर उसे बहुत-सी बातें याद आने लगीं, एक-एक करके उसे भावना के जाल में फँसाने लगीं। बाल्यावस्था के साथी, उनके साथ खेलकूद, राम-रावण की लड़ाई, फिर उस विजयादशमी के दिन की घटना, पड़ोसिन के अंग में तीर का धँस जाना, माता की व्याकुलता और मार्ग कष्ट को सोचते-सोचते उस भयातुर बालक की विचित्र दशा हो गई!

मनुष्य की मिमियाई निकालने वाली द्वीप-निवासिनी जातियों की भयानक कहानियाँ, जिन्हें उसने बचपन में माता की गोद में पड़े-पड़े सुना था, उसे और भी डराने लगीं। अकस्मात् उसके मस्तिष्क को उद्वेग से भर देने वाली यह बात भी समा गई कि ये लोग तो मुझे नौकर बनाने के लिए अपने यहाँ लाए थे, फिर इतने आराम से क्यों रखा है? हो-न-हो वही टापू वाली बात है। बस, फिर कहाँ की नींद और कहाँ का सुख, करवटें बदलने लगा! मन में यही सोचता था कि यहाँ से किसी तरह भाग चलो।

परन्तु निद्रा भी कैसी प्यारी वस्तु है। घोर दु:ख के समय भी मनुष्य को यही सुख देती है। सब बातों से व्याकुल होने पर भी वह कुछ देर के लिए सो गया। मदन उसी घर में रहने लगा। अब उसे उतनी घबराहट नहीं मालूम होती। अब वह निर्भय-सा हो गया है, किन्तु अभी तक यह बात कभी-कभी उसे उधेड़ बुन में लगा देती है कि ये लोग मुझसे इतना अच्छा बर्ताव क्यों करते हैं और क्यों इतना सुख देते हैं, पर इन बातों को वह उस समय भूल जाता है, जब 'मृणालिनी' उसकी रसोई बनवाने लगती है—देखो, रोटी जलती है, उसे उलट दो, दाल भी चला दो—इत्यादि बातें जब मृणालिनी के कोमल कंठ से वीणा की झंकार के समान सुनाई देती हैं, तब वह अपना दु:ख—माता की सोच—सब भूल जाता है।

मदन है तो अबोध, किन्तु संयुक्त प्रान्तवासी होने के कारण स्पृश्यास्पृश्य का उसे बहुत ध्यान रहता है। वह दूसरे का बनाया भोजन नहीं करता है। अतएव मृणालिनी आकर उसे बताती है और भोजन के समय हवा भी करती है।

मृणालिनी गृहस्वामी की कन्या है। वह देवबाला-सी जान पड़ती है। बड़ी-बड़ी आखें, उज्जल कपोल, मनोहर अंगभंगी, गुल्फविलम्बित केश-कलाप उसे और भी सुन्दरी बनने में सहायता दे रहे हैं। अवस्था तेरह वर्ष की है; किन्तु वह बहुत गम्भीर है।

नित्य साथ होने से दोनों में अपूर्व भाव का उदय हुआ है। बालक का मुख जब आग की आँच से लाल तथा आँखें धुएँ के कारण आँसुओं से भर जाती हैं, तब बालिका आँखों में आँसू भरकर, रोषपूर्वक पंखी फेंककर कहती है—लो जी, इससे काम लो, क्यों व्यर्थ परिश्रम करते हो? इतने दिन तुम्हें रसोई बनाते हुए, मगर बनाना न आया!

तब मदन आँच लगने के सारे दु:ख भूल जाता है, तब उसकी तृष्णा और बढ़ जाती है; भोजन रहने पर भी भूख सताती है और सताया जाकर भी वह हँसने लगता है। मन-ही-मन सोचता, मृणालिनी! तुम बंग-महिला क्यों हुईं।

मदन के मन में यह बात उत्पन्न क्यों हुई? दोनों सुन्दर थे, दोनों ही किशोर थे, दोनों संसार से अनभिज्ञ थे, दोनों के हृदय में रक्त था-उच्छा्वास था—आवेग था—विकास था, दोनों के हृदय-सिन्धु में किसी अपूर्व चन्द्र का मधुर-उज्जल प्रकाश पड़ता था, दोनों के हृदय-कानन में नन्दन-पारिजात खिला था!

जिस परिवार में बालक मदन पलता था, उसके मालिक हैं अमरनाथ बनर्जी, आपके नवयुवक पुत्र का नाम है किशोरनाथ बनर्जी, कन्या का नाम मृणालिनी और गृहिणी का नाम हीरामणि है। बम्बई और कलकत्ता, दोनों स्थानों में, आपकी दुकानें थीं, जिनमें बाहरी चीजों का क्रय-विक्रय होता था; विशेष काम मोती के बनिज का था। आपका ऑफिस सीलोन में था; वहाँ से मोती की खरीद होती थी। आपकी कुछ जमीन भी वहाँ थी। उससे आपकी बड़ी आय थी। आप प्राय: अपनी बम्बई की दुकान में और परिवार कलकते में रहता था। धन अपार था, किसी चीज की कमी न थी। तो भी आप एक प्रकार से चिन्तित थे!

संसार में कौन चिन्ताग्रस्त नहीं है? पशु-पक्षी, कीट-पतंग, चेतन और अचेतन, सभी को किसी-न-किसी प्रकार की चिन्ता है। जो योगी हैं, जिन्होंने सबकुछ त्याग दिया है, संसार जिनके वास्ते असार है, उन्होंने भी स्वीकार किया है। यदि वे आत्मचिन्तन न करें, तो उन्हें योगी कौन कहेगा?

किन्तु बनर्जी महाशय की चिन्ता का कारण क्या है? सो पति-पत्नी की इस बातचीत से ही विदित हो जाएगा—

अमरनाथ—किशोर क्वाँरा ही रहना चाहता है। अभी तक उसकी शादी कहीं पक्की नहीं हुई।

हीरामणि—सीलोन में आपके व्यापार करने तथा रहने से समाज आप को दूसरी ही

दृष्टि से देख रहा है।

अमरनाथ—ऐसे समाज की मुझे कुछ परवाह नहीं है। मैं तो केवल लड़की और लड़के का ब्याह अपनी जाति में करना चाहता था। क्या टापुओं में जाकर लोग पहले बनिज नहीं करते थे? मैंने कोई अन्य धर्म तो ग्रहण नहीं किया, फिर यह व्यर्थ का आडम्बर क्यों है? और यदि, कोई खान-पान का दोष दे, तो क्या यहाँ पर तिलक कर पूजा करनेवाले लोगों से होटल बचा हुआ है?

हीरामणि—फिर क्या कीजिएगा? समाज तो इस समय केवल उन्हीं बगला-भगतों को परम धार्मिक समझता है!

अमरनाथ—तो फिर अब मैं ऐसे समाज को दूर ही से हाथ जोड़ता हूँ।

हीरामणि—तो ये लड़के-लड़की क्वाँरे ही रहेंगे?

अमरनाथ—नहीं, अब हमारी यह इच्छा है कि तुम सबको लेकर उसी जगह चलें। यहाँ कई वर्ष रहते भी हुए, किन्तु कार्य सिद्ध होने की कुछ भी आशा नहीं है, तो फिर अपना व्यापार क्यों नष्ट होने दें? इसलिए, अब तुम सबको वहीं चलना होगा। न होगा तो ब्राहा हो जाएँगे, किन्तु यह उपेक्षा अब सही नहीं जाती।

मदन, मृणालिनी के संगम से बहुत ही प्रसन्न है। सरला मृणालिनी भी प्रफुल्लित है। किशोरनाथ भी उसे बहुत प्यार करता है, प्राय: उसी को साथ लेकर हवा खाने के लिए जाता है। दोनों में बहुत ही सौहार्द है। मदन भी बाहर किशोरनाथ के साथ और घर आने पर मृणालिनी की प्रेममयी वाणी से आप्यायित रहता है।

मदन का समय सुख से बीतने लगा, किन्तु बनर्जी महाशय के सपरिवार बाहर जाने की बातों ने एक बार उसके हृदय को उद्वेगपूर्ण बना दिया। वह सोचने लगा कि मेरा क्या परिणाम होगा, क्या मुझे भी चलने के लिए आज्ञा देंगे? और यदि ये चलने के लिए कहेंगे, तो मैं क्या करूँगा? इनके साथ जाना ठीक होगा या नहीं?

इन सब बातों को वह सोचता ही था कि इतने में किशोरनाथ ने अकस्मात् आकर उसे चौंका दिया। उसने खड़े होकर पूछा—कहिए, आप लोग किस सोच-विचार में पड़े हुए हैं? कहाँ जाने का विचार है?

—क्यों, क्या तुम न चलोगे?

—कहाँ?

—जहाँ हम लोग जाएँ।

—वही तो पूछता हूँ कि आप लोग कहाँ जाएँगे?

—सीलोन!

—तो मुझसे भी आप वहाँ चलने के लिए कहते हैं?

—इसमें तुम्हारी हानि ही क्या है?

—(यज्ञोपवीत दिखाकर) इसकी ओर भी तो ध्यान कीजिए!

—तो क्या समुद्र-यात्रा तुम नहीं कर सकते?

—सुना है कि वहाँ जाने से धर्म नष्ट हो जाता है!

—क्यों? जिस तरह तुम यहाँ भोजन बनाते हो, उसी तरह वहाँ भी बनाना।

—जहाज पर भी चढ़ना होगा!

—उसमें हर्ज ही क्या है? लोग गंगासागर और जगन्नाथजी जाते समय जहाज पर नहीं चढ़ते?

मदन अब निरुत्तर हुआ; किन्तु उत्तर सोचने लगा। इतने ही में उधर से मृणालिनी आती हुई दिखाई पड़ी। मृणालिनी को देखते ही उसके विचार रूपी मोतियों को प्रेम-हंस ने चूग लिया और उसे उसकी बुद्धि और भी भ्रमपूर्ण जान पड़ने लगी।

मृणालिनी ने पूछा—क्यों मदन, तुम बाबा के साथ न चलोगे?

जिस तरह वीणा की झंकार से मस्त होकर मृग स्थिर हो जाता है अथवा मनोहर वंशी की तान से झूमने लगता है वैसे ही मृणालिनी के मधुर स्वर में मुग्ध मदन ने कह दिया—क्यों न चलूँगा।

सारा संसार घड़ी-घड़ी-भर पर, पल-पल-भर पर, नवीन-सा प्रतीत होता है और इससे उस विश्वयन्त्र को बनाने वाले स्वतन्त्र की बड़ी भारी निपुणता का पता लगता है; क्योंकि नवीनता की यदि रचना न होती, तो मानव-समाज को यह संसार और ही तरह का भाषित होता। फिर उसे किसी वस्तु की चाह न होती, इतनी तरह के व्यावहारिक पदार्थों की कुछ भी आवश्यकता न होती। समाज, राज्य और धर्म के विशेष परिवर्तन-रूपी पट में इसकी मनोहर मूर्ति और भी सलोनी दीख पड़ती है। मनुष्य बहुप्रेमी क्यों हो जाता है? मानवों की प्रवृत्ति क्यों दिन-रात बदला करती है! नगर-निवासियों को पहाड़ी घाटियाँ क्यों सौन्दर्यमयी प्रतीत होती हैं? विदेश-पर्यटन में क्यों मनोरंजन होता है? मनुष्य क्यों उत्साहित होता है? इत्यादि प्रश्नों के उत्तर में केवल यही कहा जा सकता है कि नवीनता की प्रेरणा!

नवीनता वास्तव में ऐसी ही वस्तु है कि जिससे मदन को भारत से सीलोन तक पहुँच जाना कुछ कष्टकर न हुआ।

विशाल सागर के वक्षस्थल पर दानव-राज की तरह वह जहाज अपनी चाल और उसकी शक्ति दिखा रहा है। उसे देखकर मदन को द्रोपदी और पांडवों को लादे हुए घटोत्कच का ध्यान आता था।

उत्ताल तरंगों की कल्लोल-माला अपना अनुपम दृश्य दिखा रही है। चारों ओर जल-ही-जल है, चन्द्रमा अपने पिता की गोद में क्रीड़ा करता हुआ आनन्द दे रहा है। अनन्त सागर में अनन्त आकाश-मण्डल के असंख्य नक्षत्र अपने प्रतिबिम्ब दिखा रहे हैं।

मदन तीन-चार बरस में युवक हो गया है। उसकी भावुकता बढ़ गई थी। वह समुद्र का सुन्दर दृश्य देख रहा था। अकस्मात् एक प्रकाश दिखाई देने लगा। वह उसी को देखने लगा।

उस मनोहर अरुण का प्रकाश नील जल को भी आरक्तिम बनाने की चेष्टा करने लगा।

चंचल तरंगों की लहरियाँ सूर्य की किरणों से क्रीड़ा करने लगीं। मदन उस अनन्त समुद्र को देखकर डरा नहीं, किन्तु अपने प्रेममय हृदय का एक जोड़ा देखकर और भी प्रसन्न हो वह निर्भीक हृदय से उन लोगों के साथ सीलोन पहुँचा।

अमरनाथ के विशाल भवन में रहने से मदन भी बड़ा ही प्रसन्न है। मृणालिनी और मदन उसी प्रकार से मिलते-जुलते हैं, जैसे कलकत्ते में मिलते-जुलते थे। लवण-महासमुद्र की महिमा दोनों ही को मनोहर जान पड़ती है। प्रशान्त महासागर के तट की संध्या दोनों के नेत्रों को ध्यान में लगा देती है। डूबते हुए सूर्यदेव देव-तुल्य हृदयों को संसार की गति दिखलाते हैं, अपने राग की आभा उन प्रभातमय हृदयों पर डालते हैं, दोनों ही सागर-तट पर खड़े सिंधु की तरंग-भंगियों को देखते हैं; फिर भी दोनों ही दोनों की मनोहर अंग-भंगियों में भूले हुए हैं।

महासमुद्र के तट पर बहुत समय तक खड़े होकर मृणालिनी और मदन उस अनन्त का सौन्दर्य देखते थे। अकस्मात् बैंड का सुरीला राग सुनाई दिया, जो कि सिंधुगर्जन को भी भेदकर निकलता था।

मदन, मृणालिनी—दोनों एकाग्रचित्त हो उस ओजस्विनी कविवाणी को जातीय संगीत में सुनने लगे, किन्तु वहाँ कुछ दिखाई न दिया। चकित होकर वे सुन रहे थे। प्रबल वायु भी उत्ताल तरंगों को हिलाकर उनको डराता हुआ उसी की प्रतिध्वनि करता था। मन्त्र-मुग्ध के समान सिंधु भी अपनी तरंगों के घात-प्रतिघात पर चिढ़कर उन्हीं शब्दों को दुहराता है। समुद्र को स्वीकार करते देखकर अनन्त आकाश भी उसी की प्रतिध्वनि करता है।

धीरे-धीरे विशाल सागर के हृदय को फाड़ता हुआ एक जंगी जहाज दिखाई पड़ा। मदन और मृणालिनी, दोनों ही, स्थिर दृष्टि से उसकी ओर देखते रहे। जहाज अपनी जगह पर ठहरा और इधर पोर्ट-संरक्षक ने उस पर सैनिकों के उतरने के लिए यथोचित प्रबन्ध किया।

समुद्र की गम्भीरता, संध्या की निस्तब्धता और बैंड के सुरीले राग ने दोनों के हृदयों को सम्मोहित कर लिया और वे इन्हीं सब बातों की चर्चा करने लग गए।

मदन ने कहा—मृणालिनी, यह बाजा कैसा सुरीला है?

मृणालिनी का ध्यान टूटा। सहसा उसके मुख से निकला—तुम्हारे कल-कंठ से अधिक नहीं है।

इसी तरह दिन बीतने लगे। मदन को कुछ काम नहीं करना पड़ता था। जब कभी उसका जी चाहता, तब वह महासागर के तट पर जाकर प्रकृति की सुषमा को निरखता और उसी में आनन्दित होता था। वह प्राय: गोता लगाकर मोती निकालने वालों की ओर देखा करता और मन-ही-मन उनकी प्रशंसा किया करता था।

मदन का मालिक भी उसको कभी कोई काम करने के लिए आज्ञा नहीं देता था। वह उसे बैठा देखकर मृणालिनी के साथ घूमने के लिए जाने की आज्ञा देता था। उसका स्वभाव ही ऐसा सरल था कि सभी सहवासी उससे प्रसन्न रहते थे, वह भी उनसे खूब हिल-मिलकर रहता था।

संसार भी बड़ा प्रपंचमय यन्त्र है। वह अपनी मनोहरता पर आप ही मुग्ध रहता है।

एक एकान्त कमरे में बैठे हुए मृणालिनी और मदन ताश खेल रहे हैं, दोनों जी-जान से अपने-अपने जीतने की कोशिश कर रहे हैं।

इतने ही में सहसा अमरनाथ बाबू उस कोठरी में आए। उनके मुख-मण्डल पर क्रोध झलकता था। वह आते ही बोले—क्यों रे दुष्ट! तू बालिका को फुसला रहा है।

मदन तो सुनकर सन्नाटे में आ गया। उसने नम्रता के साथ होकर पूछा—क्यों पिता, मैंने क्या किया है?

अमरनाथ—अभी पूछता ही है! तू इस लड़की को बहकाकर अपने साथ लेकर दूसरी जगह भागना चाहता है?

मदन—बाबूजी, यह आप क्या कह रहे हैं? मुझ पर आप इतना अविश्वास कर रहे हैं? किसी दुष्ट ने आपसे झूठी बात कही है।

अमरनाथ—अच्छा, तुम यहाँ से चलो और अब से तुम दूसरी कोठरी में रहा करो। मृणालिनी को और तुमको अगर हम एक जगह देख पाएँगे तो समझ रखो—समुद्र के गर्भ में ही तुमको स्थान मिलेगा।

मदन अमरनाथ बाबू के पीछे चला। मृणालिनी मुरझा गई, मदन के ऊपर अपवाद लगाना उसके सुकुमार हृदय से सहा नहीं गया। वह नव-कुसुमित पददलित आश्रय-विहीन माधवी-लता के समान पृथ्वी पर गिर पड़ी और लोट-लोटकर रोने लगी।

मृणालिनी ने दरवाजा भीतर से बंद कर लिया और वहीं लोटती हुई आँसुओं से हृदय की जलन को बुझाने लगी।

कई घण्टे के बाद जब उसकी माँ ने जाकर किवाड़ खुलवाए उस समय उसकी रेशमी साड़ी का आँचल भीगा हुआ, उसका मुख सूखा हुआ और आँखें लाल-लाल हो आई थीं। वास्तव में वह मदन के लिए रोई थी। इसी से उसकी यह दशा हो गई। सचमुच संसार बड़ा प्रपंचमय है।

दूसरे घर में रहने से मदन बहुत घबड़ाने लगा। वह अपना मन बहलाने के लिए कभी-कभी समुद्र-तट पर बैठकर गद्गद् हो सूर्य-भगवान का पश्चिम दिशा से मिलना देखा करता था; और जब तक वह अस्त न हो जाते थे, तब तक बराबर टकटकी लगाए देखता था। वह अपने चित्त में अनेक कल्पना की लहरें उठाकर समुद्र और अपने हृदय की तुलना भी किया करता था।

मदन का अब इस संसार में कोई नहीं है। माता भारत में जीती है या मर गई—यह भी बेचारे को नहीं मालूम! संसार की मनोहरता, आशा की भूमि, मदन के जीवन-स्रोत का जल, मदन के हृदय-कानन का अपूर्व पारिजात, मदन के हृदय-सरोवर की मनोहर मृणालिनी भी अब उससे अलग कर दी गई है। जननी, जन्मभूमि, प्रिय, कोई भी तो मदन के पास नहीं है! इसी से उसका हृदय आलोड़ित होने लगा और वह अनाथ बालक ईर्ष्या से भरकर अपने

अपमान की ओर ध्यान देने लगा। उसको भलीभाँति विश्वास हो गया कि इस परिवार के साथ रहना ठीक नहीं है। जब इन्होंने मेरा तिरस्कार किया, तो अब इन्हीं के आश्रित होकर क्यों रहूँ?

यह सोचकर उसने अपने चित्त में कुछ निश्चय किया और कपड़े पहनकर समुद्र की ओर घूमने के लिए चल पड़ा। राह में वह अपनी उधेड़-बुन में चला जाता था कि किसी ने पीठ पर हाथ रखा। मदन ने पीछे देखकर कहा—ओह, आप हैं, किशोर बाबू?

किशोरनाथ ने हँसकर कहा—कहाँ बगदादी-ऊँट की तरह भागे जाते हो?

—कहीं तो नहीं, यहीं समुद्र की ओर जा रहा हूँ।

—समुद्र की ओर क्यों?

—शरण माँगने के लिए।

यह बात मदन ने डबडबाई हुई आँखों से किशोर की ओर देखकर कही।

किशोर ने रूमाल से मदन के आँसू पोंछते-पोंछते कहा—मदन, हम जानते हैं कि उस दिन बाबूजी ने जो तिरस्कार किया था, उससे तुमको बहुत दु:ख है मगर सोचो तो, उसमें दोष किसका है? यदि तुम उस रोज मृणालिनी को बहकाने का उद्योग न करते, तो बाबूजी तुम पर क्यों अप्रसन्न होते।

अब तो मदन से नहीं रहा गया। उसने क्रोध से कहा—कौन दुष्ट उस देवबाला पर झूठा अपवाद लगाता है? और मैंने उसे बहकाया है, इस बात का कौन साक्षी है? किशोर बाबू! आप लोग मालिक हैं जो चाहें, सो कहिए। आपने पालन किया है, इसलिए, यदि आप आज्ञा दें तो मदन समुद्र में भी कूद पड़ने के लिए तैयार है, मगर अपवाद और अपमान से बचाए रहिए।

कहते-कहते मदन का मुख क्रोध से लाल हो आया, आँखों में आँसू भर आए, उसके आकार से उस समय दृढ़ प्रतिज्ञा झलकती थी।

किशोर ने कहा—इस बारे में विशेष हम कुछ नहीं जानते, केवल माँ के मुख से सुना था कि जमादार ने बाबूजी से तुम्हारी निंदा की है और इसी से वह तुम पर बिगड़े हैं।

मदन ने कहा—आप लोग अपनी बाबूगीरी में भूले रहते हैं और ये बेईमान आपका सब माल खाते हैं। मैंने उस जमादार को मोती निकालने वालों के हाथ मोती बेचते देखा; मैंने पूछा—क्यों, तुमने मोती कहाँ पाया? तब उसने गिड़गिड़ाकर, पैर पकड़कर, मुझसे कहा—बाबूजी से न कहिएगा। मैंने उसे डाँटकर फिर ऐसा काम न करने के लिए कहकर छोड़ दिया, आप लोगों से नहीं कहा। इसी कारण वह ऐसी चाल चलता है और आप लोगों ने भी बिना सोचे-समझे उसकी बात पर विश्वास कर लिया है।

यों कहते-कहते मदन उठ खड़ा हो गया। किशोर ने उसका हाथ पकड़कर बैठाया और आप भी बैठकर कहने लगा—मदन, घबड़ाओ मत, थोड़ी देर बैठकर हमारी बात सुनो। हम उसको दण्ड देंगे और तुम्हारा अपवाद भी मिटावेंगे, मगर एक बात जो कहते हैं, उसे ध्यान देकर सुनो। मृणालिनी अब बालिका नहीं है और तुम भी बालक नहीं हो। तुम्हारे-उसके जैसे भाव हैं, सो भी हमसे छिपे नहीं हैं। फिर ऐसी जगह पर तो यही चाहते हैं कि तुम्हारा

और मृणालिनी का ब्याह हो जाए।

मदन ब्याह का नाम सुनकर चौंक पड़ा और मन में सोचने लगा कि यह कैसी बात? कहाँ हम युक्तप्रान्त-निवासी अन्य जातीय और कहाँ ये बंगाली-ब्राह्मण, फिर ब्याह किस तरह हो सकता है! हो-न-हो, ये मुझे भुलावा देते हैं। क्या मैं इनके साथ अपना धर्म नष्ट करूँगा? क्या इसी कारण ये लोग मुझे इतना सुख देते हैं और खूब खुलकर मृणालिनी के साथ घूमने-फिरने और रहने देते थे? मृणालिनी को मैं जी से चाहता हूँ और जहाँ तक देखता हूँ, मृणालिनी भी मुझसे कपट-प्रेम नहीं करती, किन्तु यह ब्याह नहीं हो सकता, क्योंकि उसमें धर्म और अधर्म दोनों का डर है। धर्म का निर्णय करने की मुझमें शक्ति नहीं है। मैंने ऐसा ब्याह होते न देखा है और न सुना है, फिर कैसे यह ब्याह करूँ?

इन्हीं बातों को सोचते-सोचते बहुत देर हो गई। जब मदन को यह सुनाई पड़ा कि 'अच्छा, सोचकर हमसे कहना' तब वह चौंक पड़ा और देखा तो किशोरनाथ जा रहा है।

मदन ने किशोरनाथ के जाने पर कुछ विशेष ध्यान नहीं दिया और फिर अपने विचारों के सागर में मग्न हो गया।

फिर मृणालिनी का ध्यान आया, हृदय धड़कने लगा। मदन की चिन्ता शक्ति का वेग रुक गया और उसके मन में यही समाया कि ऐसे धर्म को मैं दूर से ही हाथ जोड़ता हूँ! मृणालिनी—प्रेम-प्रतिमा मृणालिनी को मैं नहीं छोड़ सकता।

मदन इसी मन्तव्य को स्थिर कर, समुद्र की ओर मुख कर, उसकी गम्भीरता निहारने लगा।

वहाँ पर कुछ धनी लोग पैसा फेंककर उसे समुद्र में से ले आने का तमाशा देख रहे थे। मदन ने सोचा कि प्रेमियों का जीवन 'प्रेम' है और सज्जनों का अमोघ धन 'धर्म' है। ये लोग अपने प्रेम-जीवन की परवाह न कर धर्म-धन को बटोरते हैं और फिर इनके पास जीवन और धन, दोनों चीजें दिखाई पड़ती हैं। तो क्या मनुष्य इनका अनुकरण नहीं कर सकता? अवश्य कर सकता है। प्रेम ऐसी तुच्छ वस्तु नहीं है कि धर्म को हटाकर उस स्थान पर आप बैठे। प्रेम महान् है, प्रेम उदार है। प्रेमियों को भी वह उदार और महान् बनाता है। प्रेम का मुख्य अर्थ है 'आत्मत्याग'। तो क्या मृणालिनी से ब्याह कर लेना ही प्रेम में गिना जाएगा? नहीं-नहीं, वह घोर स्वार्थ है। मृणालिनी को मैं जन्म-भर प्रेम से अपने हृदय-मन्दिर में बिठाकर पूजूँगा, उसकी सरल प्रतिमा को पंक में न लपेटूँगा, परन्तु ये लोग जैसा बर्ताव करते हैं, उससे सम्भव है कि मेरे विचार पलट जाएँ। इसलिए अब इन लोगों से दूर रहना उचित है।

मदन इन्हीं बातों को सोचता हुआ लौट आया और जो अपना मासिक वेतन जमा किया था वह तथा कुछ कपड़े आदि आवश्यक सामान लेकर वहाँ से चला गया। जाते समय उसने एक पत्र भी लिखकर वहीं छोड़ दिया।

जब बहुत देर तक लोगों ने मदन को नहीं देखा, तब चिन्तित हुए। खोज करने से उनको मदन का पत्र मिला, जिसे किशोरनाथ ने पढ़ा और पढ़कर उसका मर्म पिता को

समझा दिया।

पत्र का भाव समझते ही उनकी सब आशाएँ निर्मूल हो गईं। उन्होंने कहा—किशोर, देखो, हमने सोचा था कि मृणालिनी किसी कुलीन हिन्दू को समर्पित हो, परन्तु वह नहीं हुआ। इतना व्यय और परिश्रम, जो मदन के लिए किया गया, सब व्यर्थ हुआ। अब वह कभी मृणालिनी से ब्याह नहीं करेगा, जैसा कि उसके पत्र से विदित होता है।

—आपके उस व्यवहार ने उसे और भी भड़का दिया। अब वह कभी ब्याह न करेगा।

—मृणालिनी का क्या होगा?

—जो उसके भाग्य में है!

—क्या जाते समय मदन ने मृणालिनी से भी भेंट नहीं की?

—पूछने से मालूम होगा।

इतना कहकर किशोर मृणालिनी के पास गया। मदन उससे भी नहीं मिला था। किशोर ने आकर पिता से सब हाल कह दिया।

अमरनाथ बहुत ही शोकग्रस्त हुए। बस, उसी दिन से उनकी चिन्ता बढ़ने लगी। क्रमश: वह नित्य ही मद्य-सेवन करने लगे। वह तो प्राय: अपनी चिन्ता दूर करने के लिए मद्य-पान करते थे, किन्तु उसका फल उलटा हुआ। उनकी दशा और भी बुरी हो चली, यहाँ तक कि वह सब समय पान करने लगे काम-काज देखना-भालना छोड़ दिया।

नवयुवक 'किशोर' बहुत चिन्तित हुआ, किन्तु वह धैर्य के साथ-साथ सांसारिक कष्ट सहने लगा।

मदन के चले जाने से मृणालिनी को बड़ा कष्ट हुआ। उसे यह बात और भी खटकती थी कि मदन जाते समय उससे क्यों नहीं मिला? वह यह नहीं समझती थी कि मदन यदि जाते समय उससे मिलता, तो जा नहीं सकता था।

मृणालिनी बहुत विरक्त हो गई। संसार उसे सूना दिखाई देने लगा, किन्तु वह क्या करे? उसे अपनी मानसिक व्यथा सहनी ही पड़ी।

मदन ने अपने एक मित्र के यहाँ जाकर डेरा डाला। वह भी मोती का व्यापार करता था। बहुत सोचने-विचारने के उपरान्त उसने भी मोती का ही व्यवसाय करना निश्चित किया।

मदन नित्य, संध्या के समय, मोती के बाजार में जा, मछुए लोग, जो अपने मेहनताने में मिली हुई मोतियों की सीपियाँ बेचते थे, उनको खरीदने लगा; क्योंकि इसमें थोड़ी पूंजी से अच्छी तरह काम चल सकता था। ईश्वर की कृपा से उसका नित्य विशेष लाभ होने लगा।

संसार में मनुष्य की अवस्था सदा बदलती रहती है। वही मदन, जो तिरस्कार पा दासत्व छोड़ने पर लक्ष्य भ्रष्ट हो गया था, अब एक प्रसिद्ध व्यापारी बन गया।

मदन इस समय सम्पन्न हो गया। उसके यहाँ अच्छे-अच्छे लोग मिलने-जुलने आने लगे। उसने नदी के किनारे एक बहुत सुन्दर बंगला बनवा लिया है; उसके चारों ओर सुन्दर बगीचा भी है। व्यापारी लोग उत्सव के अवसरों पर उसको निमन्त्रण देते हैं; वह भी अपने

यहाँ कभी-कभी उन लोगों को निमन्त्रित करता है। संसार की दृष्टि में वह बहुत सुखी था, यहाँ तक कि बहुत लोग उससे डाह करने लगे। सचमुच संसार बड़ा आडम्बर-प्रिय है।

मदन सब प्रकार से शारीरिक सुख भोगा करता था; पर उसके चित्त-पट पर किसी रमणी की मलीन छाया निरन्तर अंकित रहती थी; जो उसे कभी-कभी बहुत कष्ट पहुँचाती थी। प्राय: वह उसे विस्मृति के जल से धो डालना चाहता था। यद्यपि वह चित्र किसी साधारण कारीगर का अंकित किया हुआ नहीं था कि एकदम ही लुप्त हो जाए, तथापि वह बराबर उसे मिटाने की चेष्टा करता था।

अकस्मात् एक दिन, जब सूर्य की किरणें सुवर्ण-सी-सुवर्ण आभा धारण किए हुए थीं, नदी का जल मौज से बह रहा था, उस समय मदन किनारे खड़ा हुआ स्थिर भाव से नदी की शोभा निहार रहा था। उसको वहाँ कई सुसज्जित जलयान दीख पड़े। उसका चित्त, न जाने क्यों उत्कंठित हुआ। अनुसन्धान करने पर पता लगा कि वहाँ वार्षिक जल-विहार का उत्सव होता है, उसी में लोग जा रहे हैं।

मदन के चित्त में भी उत्सव देखने की आकांक्षा हुई। वह भी अपनी नाव पर चढ़कर उसी ओर चला। कल्लोलिनी की कल्लोलों में हिलती हुई वह छोटी-सी सुसज्जित तरी चल दी।

मदन उस स्थान पर पहुँचा, जहाँ नावों का जमाव था। सैकड़ों बजरे और नौकाएँ अपने नीले-पीले, हरे-लाल निशान उड़ाती हुईं इधर-उधर घूम रही हैं। उन पर बैठे हुए मित्र लोग आपस में आमोद-प्रमोद कर रहे हैं। कामिनियाँ अपने मणिमय अलंकारों की प्रभा से उस उत्सव को आलोकमय किए हुए हैं।

मदन भी अपनी नाव पर बैठा हुआ एकटक इस उत्सव को देख रहा है। उसकी आँखें जैसे किसी को खोज रही हैं। धीरे-धीरे संध्या हो गई। क्रमश: एक, दो, तीन तारे दिखाई दिए। साथ ही पूर्व की तरफ, ऊपर को उठते हुए गुब्बारे की तरह चन्द्रबिम्ब दिखाई पड़ा। लोगों के नेत्रों में आनन्द का उल्लास छा गया। इधर दीपक जल गए। मधुर संगीत, शून्य की निस्तब्धता में और भी गूँजने लगा। रात के साथ ही आमोद-प्रमोद की मात्रा बढ़ी।

परन्तु मदन के हृदय में सन्नाटा छाया हुआ है। उत्सव के बाहर वह अपनी नौका को धीरे-धीरे चला रहा है। अकस्मात् कोलाहल सुनाई पड़ा, वह चौंककर उधर देखने लगा। उसी समय कोई चार-पाँच हाथ दूर एक काली-सी चीज दिखाई दी। अस्त हो रहे चन्द्रमा का प्रकाश पड़ने से कुछ वस्त्र भी दिखाई देने लगा। वह बिना कुछ सोचे-समझे ही जल में कूद पड़ा और उसी वस्तु के साथ बह चला।

उषा की आभा पूर्व में दिखाई पड़ रही है। चन्द्रमा की मलिन ज्योति तारागण को भी मलिन कर रही है।

तरंगों से शीतल दक्षिण-पवन धीरे-धीरे संसार को निद्रा से जगा रहा है। पक्षी भी कभी-कभी बोल उठते हैं।

निर्जन नदी-तट में एक नाव बँधी है और बाहर एक सुकुमारी सुन्दरी का शरीर अचेत अवस्था में पड़ा हुआ है। एक युवक सामने बैठा हुआ उसे होश में लाने का उद्योग कर रहा है। दक्षिण-पवन भी उसे इस शुभ काम में सहायता दे रहा है।

सूर्य की पहली किरण का स्पर्श पाते ही सुन्दरी के नेत्र-कमल धीरे-धीरे विकसित होने लगे। युवक ने ईश्वर को धन्यवाद दिया और झुककर उस कामिनी से पूछा—मृणालिनी, अब कैसी हो?

मृणालिनी ने नेत्र खोलकर देखा। उसके मुख-मण्डल पर हर्ष के चिह्न दिखाई पड़े। उसने कहा—प्यारे मदन, अब अच्छी हूँ!

प्रणय का भी वेग कैसा प्रबल है! यह किसी महासागर की प्रचण्ड आँधी से कम प्रबलता नहीं रखता। इसके झोंके से मनुष्य की जीवन-नौका असीम तरंगों से घिरकर प्राय: कूल को नहीं पाती। अलौकिक आलोकमय अन्धकार में प्रणयी अपनी प्रणय-तरी पर आरोहण कर उसी आनन्द के महासागर में घूमना पसन्द करता है, कूल की ओर जाने की इच्छा भी नहीं करता।

इस समय मदन और मृणालिनी दोनों की आँखों में आँसुओं की धारा धीरे-धीरे बह रही है। चंचलता का नाम भी नहीं है। कुछ बल आने पर दोनों उस नाव में जा बैठे।

मदन ने मल्लाहों को पास के गाँव से दूध और कुछ खाने की वस्तु लाने के लिए भेजा। फिर दोनों ने बिछुड़ने के उपरान्त की सब कथा परस्पर कह सुनाई।

मृणालिनी कहने लगी—भैया किशोरनाथ से मैं तुम्हारा सब हाल सुना करती थी, पर वह कहा करते थे कि तुमसे मिलने में उनको संकोच होता है। इसका कारण उन्होंने कुछ नहीं बतलाया। मैं भी हृदय पर पत्थर रखकर तुम्हारे प्रणय को आज तक स्मरण कर रही हूँ।

मदन ने बात टालकर पूछा—मृणालिनी, तुम जल में कैसे गिरीं?

मृणालिनी ने कहा—मुझे बहुत उदास देख भैया ने कहा, चलो तुम्हें एक तमाशा दिखलावें, सो मैं भी आज यहाँ मेला देखने आई। कुछ कोलाहल सुनकर मैं नाव पर खड़ी हो देखने लगी। दो नाववालों में झगड़ा हो रहा था। उन्हीं के झगड़े में हाथापाई में नाव हिल गई और मैं गिर पड़ी। फिर क्या हुआ, मैं कुछ नहीं जानती।

इतने में दूर से एक नाव आती हुई दिखाई पड़ी, उस पर किशोरनाथ था। उसने मृणालिनी को देखकर बहुत हर्ष प्रकट किया, और सब लोग मिलकर बहुत आनन्दित हुए।

बहुत कुछ बातचीत होने के उपरान्त मृणालिनी और किशोर दोनों ने मदन के घर चलना स्वीकार किया। नावें नदी तट पर स्थित मदन के घर की ओर बढ़ीं। उस समय मदन को एक दूसरी ही चिन्ता थी।

भोजन के उपरान्त किशोरनाथ ने कहा—मदन, हम अब भी तुमको छोटा भाई ही समझते हैं; पर तुम शायद हमसे कुछ रुष्ट हो गए हो।

मदन ने कहा—भैया, कुछ नहीं। इस दास से जो कुछ ढिठाई हुई हो, उसे क्षमा करना, मैं तो आपका वही मदन हूँ।

इसी तरह बहुत-सी बातें होती रहीं, फिर दूसरे दिन किशोरनाथ मृणालिनी को साथ

लेकर अपने घर गया।

अमरनाथ बाबू की अवस्था बड़ी शोचनीय है। वह एक प्रकार से मद्य के नशे में चूर रहते हैं, कामकाज देखना सब छोड़ दिया है। अकेला किशोरनाथ कामकाज सँभालने के लिए तत्पर हुआ, पर उसके व्यापार की दशा अत्यन्त शोचनीय होती गई, और उसके पिता का स्वास्थ्य भी बिगड़ता चला। क्रमश: उसको चारों ओर अन्धकार दिखाई देने लगा।

संसार की कैसी विलक्षण गति है! जो बाबू अमरनाथ एक समय सारे सीलोन में प्रसिद्ध व्यापारी गिने जाते थे और व्यापारी लोग जिनसे सलाह लेने के लिए तरसते थे, वही अमरनाथ इस समय कैसी अवस्था में हैं! कोई उनसे मिलने भी नहीं आता!

किशोरनाथ एक दिन अपने ऑफिस में बैठा कार्य देख रहा था। अकस्मात् मृणालिनी भी वहीं आ गई और एक कुर्सी खींचकर बैठ गई। उसने किशोर से कहा—क्यों भैया, पिताजी की कैसी अवस्था है? कामकाज की भी दशा अच्छी नहीं है, तुम भी चिन्ता में व्याकुल रहते हो, यह क्या है?

किशोरनाथ—बहन, कुछ न पूछो, पिताजी की अवस्था तो तुम देख ही रही हो। कामकाज की अवस्था भी अत्यन्त शोचनीय हो रही है। पचास लाख रुपये के लगभग बाजार का देना है और ऑफिस का रुपया सब बाजार में फँस गया है, जो कि काम देखे-भाले बिना पिताजी की अस्वस्थता के कारण दब-सा गया है। इसी सोच में बैठा हुआ हूँ कि ईश्वर क्या करेंगे!

मृणालिनी भयातुर हो गई। उसके नेत्रों से आँसुओं की धारा बहने लगी। किशोर उसे समझाने लगा; फिर बोला—केवल एक ईमानदार कर्मचारी अगर कामकाज की देखभाल किया करता, तो यह अवस्था न होती। आज यदि मदन होता, तो हम लोगों की यह दशा न होती।

मदन का नाम सुनते ही मृणालिनी कुछ विवर्ण हो गई और उसकी आँखों में आँसू भर आए। इतने में दरबान ने आकर कहा—सरकार, एक रजिस्ट्री चिट्ठी मृणालिनी देवी के नाम से आई है, डाकिया बाहर खड़ा है।

किशोर ने कहा—बुला लाओ।

किशोर ने वह रजिस्ट्री लेकर खोली। उसमें एक पत्र और एक स्टाम्प का कागज था। देखकर किशोर ने मृणालिनी के आगे फेंक दिया। मृणालिनी ने वह पत्र किशोर के हाथ में देकर पढ़ने के लिए कहा। किशोर पढ़ने लगा—

"मृणालिनी!

आज मैं तुमको पत्र लिख रहा हूँ। आशा है कि तुम इसे ध्यान देकर पढ़ोगी। मैं एक अनजाने स्थान का रहनेवाला कंगाल के भेष में तुमसे मिला और तुम्हारे परिवार में पालित हुआ। तुम्हारे पिता ने मुझे आश्रय दिया, और मैं सुख से तुम्हारा मुख देखकर दिन बिताने लगा, पर दैव को वह ठीक न जँचा! अच्छा, जैसी उसकी इच्छा! पर मैं तुम्हारे परिवार को

सदा स्नेह की दृष्टि से देखता हूँ। बाबू अमरनाथ के कहने-सुनने का मुझे कुछ ध्यान भी नहीं है, मैं उसे आशीर्वाद समझता हूँ। मेरे चित्त में उसका तनिक भी ध्यान नहीं है, पर केवल पश्चात्ताप यह है कि मैं उनसे बिना कहे-सुने चला आया। अच्छा, इसके लिए उनसे क्षमा माँग लेना और भाई किशोरनाथ से भी मेरा यथोचित अभिवादन कह देना।

अब कुछ आवश्यक बातें मैं लिखता हूँ, उन्हें ध्यान से पढ़ो। जहाँ तक सम्भव है, उनके करने में तुम आगा-पीछा न करोगी—यह मुझे विश्वास है। तुम्हारे परिवार की दशा अच्छी तरह विदित है, मैं उसे लिखकर तुम्हारा दुःख नहीं बढ़ाना चाहता। सुनो, यह एक 'विल' है, जिसमें मैंने अपनी सब सीलोन की सम्पत्ति तुम्हारे नाम लिख दी है। वह तुम्हारी ही है, उसे लेने में तुमको संकोच न करना चाहिए। वह सब तुम्हारे ही रुपये का लाभ है। जो धन मैं वेतन में पाता था, वही मूल कारण है। अस्तु, यह मूलधन, लाभ और ब्याज सहित, तुमको लौटा दिया जाता है। इसे अवश्य स्वीकार करना और स्वीकार करो या न करो, अब सिवा तुम्हारे इसका स्वामी कौन है? क्योंकि मैं भारतवर्ष से जिस रूप में आया था, उसी रूप में लौटा जा रहा हूँ। मैंने इस पत्र को लिखकर तब भेजा है, जब घर से निकलकर रवाना हो चुका हूँ। अब तुमसे भेंट कभी नहीं हो सकती। तुम यदि आओ भी तो उस समय मैं जहाज पर होऊँगा। तुमसे केवल यही प्रार्थना है कि 'तुम मुझे भूल जाना'।

मदन"

यह पत्र पढ़ते ही मृणालिनी की और किशोरनाथ की अवस्था दूसरी ही हो गई। मृणालिनी ने कातर स्वर में कहा—भैया, क्या समुद्र-तट तक चल सकते हो?

किशोरनाथ ने खड़े होकर कहा—अवश्य!

बस, तुरन्त ही एक गाड़ी पर सवार होकर दोनों समुद्र-तट की ओर चले। ज्योंही वे पहुँचे, त्योंही जहाज तट छोड़ चुका था। उस समय व्याकुल होकर मृणालिनी की आँखें किसी को खोज रही थीं, किन्तु अधिक खोज नहीं करनी पड़ी।

किशोर और मृणालिनी दोनों ने देखा कि गेरुए रंग का कपड़ा पहने हुए एक व्यक्ति दोनों को हाथ जोड़े हुए जहाज पर खड़ा है और जहाज शीघ्रता के साथ समुद्र के बीच में चला जा रहा है!

मृणालिनी ने देखा कि बीच में अगाध समुद्र है!

सिकन्दर की शपथ

सूर्य की चमकीली किरणों के साथ, यूनानियों के बरछे की चमक से 'मिंगलौर-दुर्ग' घिरा हुआ है। यूनानियों के दुर्ग तोड़ने वाले यन्त्र दुर्ग की दीवालों से लगा दिए गए हैं और वे अपना कार्य बड़ी शीघ्रता के साथ कर रहे हैं। दुर्ग की दीवाल का एक हिस्सा टूटा और यूनानियों की सेना उसी भग्न मार्ग से जयनाद करती हुई घुसने लगी, पर वह उसी समय पहाड़ से टकराए हुए समुद्र की तरह फिरा दी गई और भारतीय युवक वीरों की सेना उनका पीछा करती हुई दिखाई पड़ने लगी। सिकन्दर उनके प्रचण्ड अस्त्रघात को रोकता पीछे हटने लगा।

अफगानिस्तान में 'अश्वक' वीरों के साथ भारतीय वीर कहाँ से आ गए? यह आशंका हो सकती है, किन्तु पाठकगण! वे निमन्त्रित होकर उनकी रक्षा के लिए सुदूर से आए हैं, जो कि संख्या में केवल सात हजार होने पर भी ग्रीकों की असंख्य सेना को बराबर पराजित कर रहे हैं।

सिकन्दर को उस सामान्य दुर्ग के अवरोध में तीन दिन व्यतीत हो गए। विजय की सम्भावना नहीं है, सिकन्दर उदास होकर कैम्प में लौट गया और सोचने लगा। सोचने की बात ही है। गाजा और परसिपोलिस आदि के विजेता को अफगानिस्तान के एक छोटे-से दुर्ग के जीतने में इतना परिश्रम उठाकर भी सफलता मिलती नहीं दिखाई देती, उल्टे कई बार उसे अपमानित होना पड़ा।

बैठे-बैठे सिकन्दर को बहुत देर हो गई। अँधकार फैलकर संसार को छिपाने लगा, जैसे कोई कपटाचारी अपनी मन्त्रणा को छिपाता हो। केवल कभी-कभी दो-एक उल्लू उस भीषण रणभूमि में अपने भयावह शब्द को सुना देते हैं। सिकन्दर ने सीटी देकर कुछ इंगित किया, एक वीर पुरुष सामने दिखाई पड़ा। सिकन्दर ने उससे कुछ गुप्त बातें कीं और वह चला गया। अँधकार घनीभूत हो जाने पर सिकन्दर भी उसी ओर उठकर चला, जिधर वह पहला सैनिक जा चुका था।

दुर्ग के उस भाग में, जो टूट चुका था, बहुत शीघ्रता से काम लगा हुआ था, जो बहुत शीघ्र कल की लड़ाई के लिए प्रस्तुत कर दिया गया और सब लोग विश्राम करने के लिए चले गए। केवल एक मनुष्य उसी स्थान पर प्रकाश डालकर कुछ देख रहा है। वह मनुष्य कभी तो खड़ा रहता है और कभी अपना प्रकाश फैलाने वाली मशाल को लिए हुए दूसरी ओर चला जाता है। उस समय उस घोर अँधकार में वह उस भयावह दुर्ग की प्रकाण्ड छाया और भी स्पष्ट हो जाती है। उसी छाया में छिपा हुआ सिकन्दर खड़ा है। उसके हाथ में धनुष और बाण है, उसके सब अस्त्र उसके पास हैं। उसका मुख यदि कोई इस समय प्रकाश में देखता तो अवश्य कहता कि यह कोई बड़ी भयानक बात सोच रहा है, क्योंकि उसका सुन्दर मुखमण्डल इस समय विचित्र भावों से भरा है। अकस्मात् उसके मुख से एक प्रसन्नता का चीत्कार निकल पड़ा, जिसे उसने बहुत व्यग्र होकर छिपाया।

समीप की झाड़ी से एक दूसरा मनुष्य निकल पड़ा, जिसने आकर सिकन्दर से कहा—देर न कीजिए, क्योंकि यह वही है।

सिकन्दर ने धनुष को ठीक करके एक विषमय बाण उस पर छोड़ा और उसे उसी दुर्ग पर टहलते हुए मनुष्य की ओर लक्ष्य करके छोड़ा। लक्ष्य ठीक था, वह मनुष्य लुढ़ककर नीचे आ रहा। सिकन्दर और उसके साथी ने झट जाकर उसे उठा लिया, किन्तु उसके चीत्कार से दुर्ग पर का एक प्रहरी झुककर देखने लगा। उसने प्रकाश डालकर पूछा—कौन है?

उत्तर मिला—मैं दुर्ग से नीचे गिर पड़ा हूँ।

प्रहरी ने कहा—घबड़ाइए मत, मैं डोरी लटकाता हूँ।

डोरी बहुत जल्द लटका दी गई, अफगान वेशधारी सिकन्दर उसके सहारे ऊपर चढ़ गया। ऊपर जाकर सिकन्दर ने उस प्रहरी को भी नीचे गिरा दिया, जिसे उसके साथी ने मार डाला और उसका वेश आप लेकर उस सीढ़ी से ऊपर चढ़ गया। जाने के पहले उसने अपनी छोटी-सी सेना को भी उसी जगह बुला लिया और धीरे-धीरे उसी रस्सी की सीढ़ी से वे सब ऊपर पहुँचा दिए गए।

दुर्ग के प्रकोष्ठ में सरदार की सुन्दर पत्नी बैठी थी। मदिरा-विलोल दृष्टि से कभी दर्पण में अपना सुन्दर मुख और कभी अपने नवीन नील वसन को देख रही है। उसका मुख लालसा की मदिरा से चमक-चमककर उसकी ही आँखों में चकाचौंध पैदा कर रहा है। अकस्मात् 'प्यारे सरदार' कहकर वह चौंक पड़ी, पर उसकी प्रसन्नता उसी क्षण बदल गई, जब उसने सरदार के वेश में दूसरे को देखा। सिकन्दर का मानुषिक सौन्दर्य कुछ कम नहीं था, अबला-हृदय को और भी दुर्बल बना देने के लिए वह पर्याप्त था। वे एक-दूसरे को निर्निमेष दृष्टि से देखने लगे, पर अफगान-रमणी की शिथिलता देर तक न रही, उसने हृदय के सारे बल को एकत्र करके पूछा—तुम कौन हो?

उत्तर मिला—शहंशाह सिकन्दर।

रमणी ने पूछा—यह वस्त्र किस तरह मिला?

सिकन्दर ने कहा—सरदार को मार डालने से।

रमणी के मुख से चीत्कार के साथ ही निकल पड़ा—क्या सरदार मारा गया?

सिकन्दर—हाँ, अब वह इस लोक में नहीं है।

रमणी ने अपना मुख दोनों हाथों से ढँक लिया, पर उसी क्षण उसके हाथ में एक चमचमाता हुआ छुरा दिखाई देने लगा।

सिकन्दर घुटने के बल बैठ गया और बोला—सुन्दरी! एक जीव के लिए तुम्हारी दो तलवारें बहुत थीं, फिर तीसरी की क्या आवश्यकता है?

रमणी की दृढ़ता हट गई और न जाने क्यों उसके हाथ का छुरा छिटककर गिर पड़ा, वह भी घुटनों के बल बैठ गई।

सिकन्दर ने उसका हाथ पकड़कर उसे उठाया। अब उसने देखा कि सिकन्दर अकेला नहीं है, उसके बहुत—से सैनिक दुर्ग पर दिखाई दे रहे हैं। रमणी ने अपना हृदय दृढ़ किया और सन्दूक खोलकर एक जवाहरात का डिब्बा ले आकर सिकन्दर के आगे रखा। सिकन्दर ने उसे देखकर कहा—मुझे इसकी आवश्यकता नहीं है, दुर्ग पर मेरा अधिकार हो गया, इतना ही बहुत है।

दुर्ग के सिपाही यह देखकर कि शत्रु भीतर आ गया है, अस्त्र लेकर मारपीट करने पर तैयार हो गए, पर सरदार—पत्नी ने उन्हें मना किया, क्योंकि उसे बतला दिया गया था कि सिकन्दर की विजयवाहिनी दुर्ग के द्वार पर खड़ी है।

सिकन्दर ने कहा—तुम घबराओ मत, जिस तरह से तुम्हारी इच्छा होगी, उसी प्रकार सन्धि के नियम बनाए जाएँगे। अच्छा, मैं जाता हूँ।

अब सिकन्दर को थोड़ी दूर तक सरदार—पत्नी पहुँचा गई। सिकन्दर थोड़ी सेना छोड़कर आप अपने शिविर में चला गया।

सन्धि हो गई। सरदार-पत्नी ने स्वीकार कर लिया कि दुर्ग सिकन्दर के अधीन होगा। सिकन्दर ने भी उसी को यहाँ की रानी बनाया और कहा—भारतीय योद्धा, जो तुम्हारे यहाँ आए हैं, वे अपने देश को लौटकर चले जाएँ। मैं उनके जाने में किसी प्रकार की बाधा न डालूँगा। सब बातें शपथपूर्वक स्वीकार कर ली गईं।

राजपूत वीर अपने परिवार के साथ उस दुर्ग से निकल पड़े, स्वदेश की ओर चलने के लिए तैयार हुए। दुर्ग के समीप ही एक पहाड़ी पर उन्होंने अपना डेरा जमाया और भोजन करने का प्रबन्ध करने लगे।

भारतीय रमणियाँ जब अपने प्यारे पुत्रों और पतियों के लिए भोजन प्रस्तुत कर रही थीं, तो उनमें उस अफगान—रमणी के बारे में बहुत बातें हो रही थीं और वे सब उसे बहुत घृणा की दृष्टि से देखने लगीं, क्योंकि उसने एक पति—हत्यारे को आत्मसमर्पण कर दिया था। भोजन के उपरान्त जब सब सैनिक विश्राम करने लगे, तब युद्ध की बातें कहकर अपने चित्त को प्रसन्न करने लगे। थोड़ी देर नहीं बीती थी कि एक ग्रीक अश्वारोही उनके समीप

आता दिखाई पड़ा, जिसे देखकर एक राजपूत युवक उठ खड़ा हुआ और उसकी प्रतीक्षा करने लगा।

ग्रीक सैनिक उसके समीप आकर बोला—शहंशाह सिकन्दर ने तुम लोगों को दया करके अपनी सेना में भरती करने का विचार किया है। आशा है कि इस संवाद से तुम लोग बहुत प्रसन्न होगे।

युवक बोल पड़ा—इस दया के लिए हम लोग बहुत कृतज्ञ हैं, पर अपने भाइयों पर अत्याचार करने में ग्रीकों का साथ देने के लिए हम लोग कभी प्रस्तुत नहीं हैं।

ग्रीक—तुम्हें प्रस्तुत होना चाहिए, क्योंकि यह शहंशाह सिकन्दर की आज्ञा है।

युवक—नहीं महाशय, क्षमा कीजिए। हम लोग आशा करते हैं कि सन्धि के अनुसार हम लोग अपने देश को शान्तिपूर्वक लौट जाएँगे, इसमें बाधा न डाली जाएगी।

ग्रीक—क्या तुम लोग इस बात पर दृढ़ हो? एक बार और विचारकर उत्तर दो, क्योंकि उसी उत्तर पर तुम लोगों का जीवन-मरण निर्भर होगा।

इस पर कुछ राजपूतों ने समवेत स्वर से कहा—हाँ-हाँ, हम अपनी बात पर दृढ हैं, किन्तु सरदार, जिसने देवताओं के नाम से शपथ ली है, अपनी शपथ को न भूलेगा।

ग्रीक—सिकन्दर ऐसा मूर्ख नहीं है कि आए हुए शत्रुओं को और दृढ़ होने का अवकाश दे। अस्तु, अब तुम लोग मरने के लिए तैयार हो।

इतना कहकर वह ग्रीक अपने घोड़े को घुमाकर सीटी मारने लगा, जिसे सुनकर अगणित ग्रीक-सेना उन थोड़े से हिन्दुओं पर टूट पड़ी।

इतिहास इस बात का साक्षी है कि उन्होंने प्राण-पण से युद्ध किया और जब तक कि उनमें एक भी बचा, बराबर लड़ता गया। क्यों न हो, जब उनकी प्यारी स्त्रियाँ उन्हें अस्त्रहीन देखकर तलवार देती थीं और हँसती हुई अपने प्यारे पतियों की युद्ध- क्रिया देखती थीं। रणचण्डियाँ भी अकर्मण्य न रहीं, जीवन देकर अपना धर्म रखा। ग्रीकों की तलवारों ने उनके बच्चों को भी रोने न दिया, क्योंकि पिशाच सैनिकों के हाथों सभी मारे गए।

अज्ञात स्थान में निराश्रय होकर उन सब वीरों ने प्राण दिए। भारतीय लोग उनका नाम नहीं जानते!

जहाँनारा

यमुना के किनारे वाले शाही महल में एक भयानक सन्नाटा छाया हुआ है, केवल बार—बार तोपों की गड़गड़ाहट और अस्त्रों की झनकार सुनाई दे रही है। वृद्ध शाहजहाँ मसनद के सहारे लेटा हुआ है और एक दासी कुछ दवा का पात्र लिए हुए खड़ी है। शाहजहाँ अन्यमनस्क होकर कुछ सोच रहा है, तोपों की आवाज से कभी— कभी चौंक पड़ता है। अकस्मात् उसके मुख से निकल पड़ा—नहीं—नहीं, क्या वह ऐसा करेगा, क्या हमको तख्त-ताऊस से निराश हो जाना चाहिए?

—हाँ, अवश्य निराश हो जाना चाहिए।

शाहजहाँ ने सिर उठाकर कहा—कौन? जहाँनारा? क्या यह तुम सच कहती हो?

जहाँनारा—(समीप आकर) हाँ, जहाँपनाह! यह ठीक है; क्योंकि आपका अकर्मण्य पुत्र 'दारा' भाग गया, और नमक—हराम 'दिलेर खाँ' क्रूर औरंगजेब से मिल गया और किला उसके अधिकार में हो गया।

शाहजहाँ—लेकिन जहाँनारा! क्या औरंगजेब क्रूर है। क्या वह अपने बूढ़े बाप की कुछ इज्जत न करेगा। क्या वह मेरे जीते ही तख्त-ताऊस पर बैठेगा?

जहाँनारा—(जिसकी आँखों में अभिमान का अश्रुजल भरा था) जहाँपनाह! आपके इसी पुत्रवात्सल्य ने आपकी यह अवस्था की। औरंगजेब एक नारकीय पिशाच है; उसका किया हुआ क्या नहीं हो सकता, एक भले कार्य को छोड़कर।

शाहजहाँ—नहीं, जहाँनारा! ऐसा मत कहो।

जहाँनारा—हाँ, जहाँपनाह! मैं ऐसा ही कहती हूँ।

शाहजहाँ—ऐसा? तो क्या जहाँनारा! इस बदन में मुगल—रक्त नहीं है? क्या तू मेरी कुछ मदद कर सकती है?

जहाँनारा—जहाँपनाह की जो आज्ञा हो।

शाहजहाँ—तो मेरी तलवार मेरे हाथ में दे। जब तक वह मेरे हाथ में रहेगी, कोई भी

तख्त-ताऊस मुझसे न छुड़ा सकेगा।

जहाँनारा आवेश के साथ—'हाँ, जहाँपनाह! ऐसा ही होगा'—कहती हुई वृद्ध शाहजहाँ की तलवार उसके हाथ में देकर खड़ी हो गई। शाहजहाँ उठा और लड़खड़ाकर गिरने लगा, शाहजादी जहाँनारा ने बादशाह को पकड़ लिया और तख्त-ताऊस के कमरे की ओर चली।

तख्त-ताऊस पर वृद्ध शाहजहाँ बैठा है और नकाब डाले जहाँनारा पास ही बैठी है और कुछ सरदार, जो उस समय वहाँ थे, खड़े हैं; नकीब भी खड़ी है। शाहजहाँ के इशारा करते ही उसने अपने चिरभ्यस्त शब्द कहने के लिए मुँह खोला। अभी पहला ही शब्द उसके मुँह से निकला था कि उसका सिर छिटककर दूर जा गिरा! सब चकित होकर देखने लगे।

जिरहबाँतर से लदा हुआ औरंगजेब अपनी तलवार को रूमाल से पोंछता हुआ सामने खड़ा हो गया और सलाम करके बोला—हुजूर की तबीयत नासाज सुनकर मुझसे न रहा गया; इसलिए हाजिर हुआ।

शाहजहाँ—(काँपकर) लेकिन बेटा! इतनी खूँरेजी की क्या जरूरत थी? अभी—अभी वह देखो, बुड्ढे नकीब की लाश लोट रही है। उफ! मुझसे यह नहीं देखा जाता! (काँपकर) क्या बेटा, मुझे भी... (इतना कहते-कहते बेहोश होकर तख्त से झुक गया)।

औरंगजेब—(कड़ककर अपने साथियों से) हटाओ उस नापाक लाश को!

जहाँनारा से अब न रहा गया और दौड़कर सुगन्धित जल लेकर वृद्ध पिता के मुख पर छिड़कने लगी।

औरंगजेब—(उधर देखकर) हैं! यह कौन है, जो मेरे बूढ़े बाप को पकड़े हुए है? (शाहजहाँ के मुसाहिबों से) तुम सब बड़े नामाकूल हो; देखते नहीं, हमारे प्यारे बाप की क्या हालत है और उन्हें अब भी पलँग पर नहीं लिटाया। (औरंगजेब के साथ-साथ सब तख्त की ओर बढ़े)।

जहाँनारा उन्हें यों बढ़ते देखकर फुरती से कटार निकालकर और हाथ में शाही मुहर किया हुआ कागज निकालकर खड़ी हो गई और बोली—देखो, इस परवाने के मुताबिक मैं तुम लोगों को हुक्म देती हूँ कि अपनी-अपनी जगह पर खड़े रहो, तब तक मैं दूसरा हुक्म न दूँ।

सब उसी कागज की ओर देखने लगे। उसमें लिखा था—इस शख्स का सब लोग हुक्म मानो और मेरी तरह इज्जत करो।

सब उसकी अभ्यर्थना के लिए झुक गए, स्वयं औरंगजेब भी झुक गया और कई क्षण तक सब निस्तब्ध थे।

अकस्मात् औरंगजेब तनकर खड़ा हो गया और कड़ककर बोला—गिरफ्तार कर लो इस जादूगरनी को। यह सब झूठा फिसाद है, हम सिवा शहंशाह के और किसी को नहीं मानेंगे।

सब लोग उस औरत की ओर बढ़े। जब उसने यह देखा, तब फौरन अपना नकाब उलट दिया। सब लोगों ने सिर झुका दिया और पीछे हट गए, औरंगजेब ने एक बार फिर सिर नीचे कर लिया और कुछ बड़बड़ाकर जोर से बोला—कौन, जहाँनारा, तुम यहाँ कैसे?

जहाँनारा—औरंगजेब! तुम यहाँ कैसे?

औरंगजेब—(पलटकर अपने लड़के की तरफ देखकर) बेटा! मालूम होता है कि बादशाह—बेगम का कुछ दिमाग बिगड़ गया है, नहीं तो इस बेशर्मी के साथ इस जगह पर न आतीं। तुम्हें इनकी हिफाजत करनी चाहिए।

जहाँनारा—और औरंगजेब के दिमाग को क्या हुआ है, जो वह अपने बाप के साथ बेअदबी से पेश आया...

अभी इतना उसके मुँह से निकला ही था कि शहजादे ने फुरती से उसके हाथ से कटार निकाल ली और कहा—मैं अदब के साथ कहता हूँ कि आप महल में चलें, नहीं तो...

जहाँनारा से यह देखकर न रहा गया। रमणी-सुलभ वीर्य और अस्त्र-क्रन्दन और अश्रु का प्रयोग उसने किया और गिड़गिड़ाकर औरंगजेब से बोली—क्यों औरंगजेब! तुमको कुछ भी दया नहीं है?

औरंगजेब ने कहा—दया क्यों नहीं है बादशाह-बेगम! दारा जैसे तुम्हारा भाई था, वैसे ही मैं भी तो भाई ही हूँ, फिर तरफदारी क्यों?

जहाँनारा—वह तो बाप का तख्त नहीं लेना चाहता था, उसके हुक्म से सल्लनत का काम चलाता था।

औरंगजेब—तो क्या मैं यह काम नहीं कर सकता? अच्छा, बहस की जरूरत नहीं है। बेगम को चाहिए कि वह महल में जाएँ।

जहाँनारा कातर दृष्टि से वृद्ध मूर्च्छित पिता को देखती हुई शाहजादे की बताई राह से जाने लगी।

यमुना के किनारे एक महल में शाहजहाँ पलँग पर पड़ा है और जहाँनारा उसके सिरहाने बैठी हुई है।

जहाँनारा से औरंगजेब ने पूछा कि वह कहाँ रहना चाहती है, तब उसने केवल अपने वृद्ध और हतभागे पिता के साथ रहना स्वीकार किया और अब वह साधारण दासी के वेश में अपना जीवन अपने अभागे पिता की सेवा में व्यतीत करती है।

वह भड़कदार शाही पेशवाज अब उसके बदन पर नहीं दिखाई पड़ते, केवल सादे वस्त्र ही उसके प्रशान्त मुख की शोभा बढ़ाते हैं। चारों ओर उस शाही महल में एक शान्ति दिखलाई पड़ती है। जहाँनारा ने, जो कुछ उसके पास थे, सब सामान गरीबों को बाँट दिए और अपने निज के बहुमूल्य अलंकार भी उसने पहनने छोड़ दिए। अब वह एक तपस्विनी ऋषिकन्या-सी हो गई! बात-बात पर दासियों पर वह झिड़की उसमें नहीं रही। केवल आवश्यक वस्तुओं से अधिक उसके रहने के स्थान में और कुछ नहीं है।

वृद्ध शाहजहाँ ने लेटे-लेटे आँख खोलकर कहा—बेटी, अब दवा की कोई जरूरत नहीं है, यादे—खुदा ही दवा है। अब तुम इसके लिए मत कोशिश करना।

जहाँनारा ने रोकर कहा—पिता, जब तक शरीर है, तब तक उसकी रक्षा करनी ही चाहिए।

शाहजहाँ कुछ न बोलकर चुपचाप पड़े रहे। थोड़ी देर तक जहाँनारा बैठी रही; फिर उठी और दवा की शीशियाँ यमुना के जल में फेंक दीं।

थोड़ी देर तक वहीं बैठी—बैठी वह यमुना का मंद प्रवाह देखती रही। सोचती थी कि यमुना का प्रवाह वैसा ही है, मुगल साम्राज्य भी तो वैसा ही है; वह शाहजहाँ भी जो जीवित है, लेकिन तख्त-ताऊस पर तो वह नहीं बैठते।

इसी सोच-विचार में वह तब तक बैठी रही थी, जब तक चन्द्रमा की किरणें उसके मुख पर नहीं पड़ीं।

शाहजादी जहाँनारा तपस्विनी हो गई है। उसके हृदय में वह स्वाभाविक तेज अब नहीं है, किन्तु एक स्वर्गीय तेज से वह कान्तिमयी थी। उसकी उदारता पहले से भी बढ़ गई। दीन और दुःखी के साथ उसकी ऐसी सहानुभूति थी कि लोग उसे 'मूर्तिमती- करुणा' मानते थे। उसकी इस चाल से पाषाण—हृदय औरंगजेब भी विचलित हुआ। उसकी स्वतन्त्रता जो छीन ली गई थी, उसे फिर मिली, पर अब स्वतन्त्रता का उपभोग करने के लिए अवकाश ही कहाँ था? पिता की सेवा और दुःखियों के प्रति सहानुभूति करने से उसे समय ही नहीं था। जिसकी सेवा के लिए सैकड़ों दासियाँ हाथ बाँधकर खड़ी रहती थीं, वह स्वयं दासी की तरह अपने पिता की सेवा करती हुई अपना जीवन व्यतीत करने लगी। वृद्ध शाहजहाँ के इंगित करने पर उसे उठाकर बैठाती और सहारा देकर कभी-कभी यमुना के तट तक उसे ले जाती और उसका मनोरंजन करती हुई छाया-सी बनी रहती।

वृद्ध शाहजहाँ ने इहलोक की लीला पूरी की। अब जहाँनारा को संसार में कोई काम नहीं है। केवल इधर-उधर उसी महल में घूमना भी अच्छा नहीं मालूम होता। उसकी पूर्व स्मृति और भी उसे सताने लगी। धीरे-धीरे वह बहुत क्षीण हो गई। बीमार पड़ी, पर, दवा कभी न पी। धीरे-धीरे उसकी बीमारी बहुत बढ़ी और उसकी दशा बहुत खराब हो गई। जब औरंगजेब ने सुना, तब उससे भी सहन न हो सका। वह जहाँनारा को देखने के लिए गया।

एक पुराने पलँग पर, जीर्ण बिछौने पर, जहाँनारा पड़ी थी और केवल एक धीमी साँस चल रही थी। औरंगजेब ने देखा कि वह जहाँनारा, जिसके लिए भारतवर्ष की कोई वस्तु अलभ्य नहीं थी, जिसके बीमार पड़ने पर शाहजहाँ व्यग्र हो जाता था और सैकड़ों हकीम उसे आरोग्य करने के लिए प्रस्तुत रहते थे, वह इस तरह एक कोने में पड़ी है!

पाषाण भी पिघला, औरंगजेब की आँखें आँसुओं से भर आईं और वह घुटनों के बल बैठ गया। जहाँनारा के समीप मुँह ले जाकर बोला—बहन, कुछ हमारे लिए हुक्म है?

जहाँनारा ने अपनी आँखें खोल दीं और एक पुरजा उसके हाथ में दिया, जिसे झुककर

औरंगजेब ने लिया। फिर पूछा—बहन, क्या तुम हमें माफ करोगी?

जहाँनारा ने खुली हुई आँखों को आकाश की ओर उठा दिया। उस समय उनमें से एक स्वर्गीय ज्योति निकल रही थी और वह वैसे ही देखती की देखती रह गई। औरंगजेब उठा और उसने आँसू पोंछते हुए पुरजे को पढ़ा। उसमें लिखा था—

बगैर सब्ज़: न पोशद कसे मजार मरा।
कि क़ब्रपोश ग़रीबाँ हमीं गयाह बसस्त।।

भावार्थ: मुझ गरीब की कब्र को हरियाली की चादर (क़ब्रपोश) ही नसीब होनी है।

खंडहर की लिपि

जब वसन्त की पहली लहर अपना पीला रंग सीमा के खेतों पर चढ़ा लाई, काली कोयल ने उसे बरजना आरम्भ किया और भौंरे गुनगुनाकर काना-फूँसी करने लगे, उसी समय एक समाधि के पास लगे हुए गुलाब ने मुँह खोलने का उपक्रम किया, किन्तु किसी युवक के चंचल हाथ ने उसका हौसला भी तोड़ दिया। दक्षिण पवन ने उससे कुछ झटक लेना चाहा, बिचारे की पंखुड़ियाँ झड़ गईं। युवक ने इधर-उधर देखा। एक उदासी और अभिलाषामयी शून्यता ने उसकी प्रत्याशी दृष्टि को कुछ उत्तर न दिया। वसन्त पवन का एक भारी झोंका 'हा-हा' करता उसकी हँसी उड़ाता चला गया।

सटी हुई टेकरी की टूटी-फूटी सीढ़ी पर युवक चढ़ने लगा। पचास सीढ़ियाँ चढ़ने के बाद वह बगल के बहुत पुरानी दालान में विश्राम लेने के लिए ठहर गया। ऊपर जो जीर्ण मन्दिर था, उसका ध्वंसावशेष देखने को वह बार-बार जाता था। उस भग्न-स्तूप से युवक को आमन्त्रित करती हुई 'आओ-आओ' की अपरिस्फुट पुकार बुलाया करती। जाने कब के अतीत ने उसे स्मरण कर रखा है। मण्डप के भग्न कोण में एक पत्थर के ऊपर न जाने कौन-सी लिपि थी, जो किसी कोरदार पत्थर से लिखी गई थी। वह नागरी तो कदापि नहीं थी। युवक ने आज फिर उसी ओर देखते-देखते उसे पढ़ना चाहा। बहुत देर तक घूमता-घूमता वह थक गया था, इससे उसे निद्रा आने लगी। वह स्वप्न देखने लगा।

कमलों का कमनीय विकास झील की शोभा को द्विगुणित कर रहा है। उसके आमोद के साथ वीणा की झनकार, शील के स्पर्श के शीतल और सुरक्षित पवन में भर रही थी। सुदूर प्रतीचि में एक सहस्रदल स्वर्ण-कमल अपनी शेष स्वर्ण-किरण की भी मृणाल पर व्योम-निधि में खिल रहा है। वह लज्जित होना चाहता है। वीणा के तारों पर उसकी अन्तिम आभा की चमक पड़ रही है। एक आनन्दपूर्ण विषाद से युवक अपनी चंचल अँगुलियों को नचा रहा है। एक दासी स्वर्णपात्र में केसर, अगरु, चन्दन-मिश्रित अंगराग और नवमल्लिका की माला, कई ताम्बूल लिए हुए आई, प्रणाम करके उसने कहा—'महाश्रेष्ठि धनमित्र की कन्या ने श्रीमन् के

लिए उपहार भेजकर प्रार्थना की है कि आज के उद्यान गोष्ठ में आप अवश्य पधारने की कृपा करें। आनन्द विहार के समीप उपवन में आपकी प्रतीक्षा करती हुई कामिनी देवी बहुत देर तक रहेंगी।

युवक ने विरक्त होकर कहा—'अभी कई दिन हुए हैं, मैं सिंहल से आ रहा हूँ, मेरा पोत समुद्र में डूब गया है। मैं ही किसी तरह बचा हूँ। अपनी स्वामिनी से कह देना कि मेरी अभी ऐसी अवस्था नहीं है कि मैं उपवन के आनन्द का भोग कर सकूँ।'

'तो प्रभु, क्या मैं यही उत्तर दे दूँ?' दासी ने कहा।

'हाँ और यह भी कह देना कि—तुम सरीखी अविश्वासिनी स्त्रियों से मैं और भी दूर भागना चाहता हूँ, जो प्रलय के समुद्र की प्रचण्ड आँधी में एक जर्जर पोत से भी दुर्बल और उस डुबा देने वाली लहर से भी भयानक है। 'युवक ने अपनी वीणा सँवारते हुए कहा।

'वे उस उपवन में कभी की जा चुकी हैं, और हमसे यह भी कहा है कि यदि वे गोष्ठ में न जाना चाहें, तो स्तूप की सीढ़ी के विश्राम-मण्डप में मुझसे एक बार अवश्य मिल लें, मैं निदोष हूँ। 'दासी ने सविनय कहा।

युवा ने रोष-भरी दृष्टि से देखा। दासी प्रणाम करके चली गई। सामने का एक कमल सन्ध्या के प्रभाव से कुम्हला रहा था। युवक को प्रतीत हुआ कि वह धनमित्र की कन्या का मुख है। उससे मकरन्द नहीं, अश्रु गिर रहे हैं। 'मैं निदोष हूँ,' यही भौंरे भी गूँकर कह रहे हैं।

युवक ने स्वप्न में चौंककर कहा—'मैं आऊँगा।' आँख न खोलने पर भी उसने उस जीर्ण दालान की लिपि पढ़ ली—'निष्ठर! अन्त को तुम नहीं आए।' युवक सचेत होकर उठने को था कि वह कई सौ बरस की पुरानी छत धम से गिरी।

वायुमण्डल में—'आओ-आओ' का शब्द गूँजने लगा।

पाप की पराजय

घने हरे कानन के हृदय में पहाड़ी नदी झिर-झिर करती बह रही है। गाँव से दूर, बन्दूक लिए हुए शिकारी के वेश में, घनश्याम दूर बैठा है। एक निरीह शशक मारकर प्रसन्नता से पतली-पतली लकड़ियों में उसका जलना देखता हुआ प्रकृति की कमनीयता के साथ वह बड़ा अन्याय कर रहा है, किन्तु उसे दायित्व-विहीन विचारपति की तरह बेपरवाही है। जंगली जीवन का आज उसे बड़ा अभिमान है। अपनी सफलता पर आप ही मुग्ध होकर मानव-समाज की शैशवावस्था की पुनरावृत्ति करता हुआ निर्दय घनश्याम उस अधजले जन्तु से उदर भरने लगा। तृप्त होने पर वन की सुधि आई। चकित होकर देखने लगा कि यह कैसा रमणीय देश है। थोड़ी देर में तन्द्रा ने उसे दबा लिया। वह कोमल वृत्ति विलीन हो गई। स्वप्न ने उसे फिर उद्वेलित किया। निर्मल जल-धारा से घुले हुए पत्तों का घना कानन, स्थान-स्थान पर कुसुमित कुन्ज, आन्तरिक और स्वाभाविक आलोक में उन कुन्जों की कोमल छाया, हृदय-स्पर्शकारी शीतल पवन का संचार, अस्फुट आलेख्य के समान उसके सामने स्फुरित होने लगे।

घनश्याम को सुदूर से मधुर झंकार- सी सुनाई पड़ने लगी। उसने अपने को व्याकुल पाया। देखा तो एक अदभुत दृश्य! इन्द्रनील की पुतली फूलों से सजी हुई झरने के उस पार पहाड़ी से उतरकर बैठी है। उसके सहज-कुंचित केश से वन्य कुरुवक कलियाँ कूद-कूदकर जल-लहरियों से क्रीड़ा कर रही हैं। घनश्याम को वह वनदेवी-सी प्रतीत हुई। यद्यपि उसका रंग कंचन के समान नहीं, फिर भी साँचे में ढला हुआ है। आकर्षण विस्तृत नेत्र नहीं, तो भी उनमें एक स्वाभाविक राग है। यह कवि की कल्पना-सी कोई स्वर्गीया आकृति नहीं, प्रत्युत एक भिल्लनी है। तब भी इसमें सौन्दर्य नहीं है, यह कोई साहस के साथ नहीं कह सकता। घनश्याम ने तन्द्रा से चौंककर उस सहज सौन्दर्य को देखा और विषम समस्या में पड़कर यह सोचने लगा—'क्या सौन्दर्य उपासना की ही वस्तु है, उपभोग की नहीं?' इस प्रश्न को हल करने के लिए उसने हंटिंग कोट के पाकेट का सहारा लिया। क्लान्तिहारिणी का पान करने

पर उसकी आँखों पर रंगीन चश्मा चढ़ गया। उसकी तन्द्रा का यह काल्पनिक स्वर्ग धीरे-धीरे विलास मन्दिर में परिणत होने लगा। घनश्याम ने देखा कि अद्‌भुत रूप, यौवन की चरम-सीमा और स्वास्थ्य का मनोहर संस्करण, रंग बदलकर पाप ही सामने आया है।

पाप का यह रूप, जब वह वासना को फाँसकर अपनी ओर मिला चुकता है, बड़ा कोमल अथच कठोर एवं भयानक होता है और तब पाप का मुख कितना सुन्दर होता है! सुन्दर ही नहीं, आकर्षक भी, वह भी कितना प्रलोभन-पूर्ण और कितना शक्तिशाली, जो अनुभव में नहीं आ सकता। उसमें विजय का दर्प भरा रहता है। वह अपनी एक मृदु मुस्कान से सुदृढ़ विवेक की अवहेलना करता है। घनश्याम ने धोखा खाया और क्षण भर में वह सरल सुषमा विलुप्त होकर उद्दीपन का अभिनय करने लगी। यौवन ने भी उस समय काम से मित्रता कर ली। पाप की सेना और उसका आक्रमण प्रबल हो चला। विचलित होते ही घनश्याम को पराजित होना पड़ा। वह आवेश में बाँहें फैलाकर झरने को पार करने लगा।

नील की पुतली ने उस ओर देखा भी नहीं। युवक की माँसल पीन भुजाएँ उसे आलिंगन करना ही चाहती थीं कि ऊपर पहाड़ी पर से शब्द सुनाई पडा—'क्यों नीला, कब तक यहीं बैठी रहेगी? मुझे देर हो रही है। चल, घर चलें।'

घनश्याम ने सिर उठाकर देखा तो ज्योतिर्मयी दिव्य मूर्ति रमणी सुलभ पवित्रता का ज्वलन्त प्रमाण, केवल यौवन से ही नहीं, बल्कि कला की दृष्टि से भी, दृष्टिगत हुई, किन्तु आत्म-गौरव का दुर्ग किसी की सहज पाप-वासना को वहाँ फटकने नहीं देता था। शिकारी घनश्याम लज्जित तो हुआ ही, पर वह भयभीत भी था। पुण्य-प्रतिमा के सामने पाप की पराजय हुई। नीला ने घबराकर कहा—'रानी जी, आती हूँ। जरा मैं थक गई थी।' रानी और नीला दोनों चली गईं। अबकी बार घनश्याम ने फिर सोचने का प्रयास किया—'क्या, सौन्दर्य उपभोग के लिए नहीं, केवल उपासना के लिए है?' खिन्न होकर वह घर लौटा, किन्तु बार-बार वह घटना याद आती रही। घनश्याम कई बार उस झरने पर क्षमा माँगने गया, किन्तु वहाँ उसे कोई न मिला।

जो कठोर सत्य है, जो प्रत्यक्ष है, जिसकी प्रचण्ड लपट अभी नदी में प्रतिभासित हो रही है, जिसकी गर्मी इस शीतल रात्रि में भी अंक में अनुभूत हो रही है, उसे असत्य या उसे कल्पना कहकर उड़ा देने के लिए घनश्याम का मन हठ कर रहा है।

थोड़ी देर पहले जब (नदी पर से मुक्त आकाश में एक टुकड़ा बादल का उठ आया था) चिता लग चुकी थी, घनश्याम आग लगाने को उपस्थित था। उसकी स्त्री चिता पर अतीत निद्रा में निमग्न थी। निठुर हिन्दू-शास्त्र की कठोर आज्ञा से जब वह विद्रोह करने लगा था, उसी समय घनश्याम को सान्त्वना हुई, उसने अचानक मूर्खता से अग्नि लगा दी। उसे ध्यान हुआ कि निर्दय बादल बरसकर चिता को बुझा देंगे, उसे जलने न देंगे, किन्तु व्यर्थ? चिता ठण्डी होकर और भी ठहर-ठहर कर सुलगने लगी, क्षणभर में जलकर राख न होने पाई।

घनश्याम ने हृदय में सोचा कि यदि हम मुसलमान या ईसाई होते तो? आह! फूलों में

मिली हुई मुलायम मिट्टी में इसे सुला देते, सुन्दर समाधि बनाते, आजीवन प्रति सन्ध्या को दीप जलाते, फूल चढ़ाते, कविता पढ़ते, रोते, आँसू बहाते, किसी तरह दिन बीत जाते, किन्तु यहाँ कुछ भी नहीं। हत्यारा समाज! कठोर धर्म! कुत्सित व्यवस्था! इनसे क्या आशा? चिता जलने लगी।

श्मशान से लौटते समय घनश्याम ने साथियों को छोड़कर जंगल की ओर पैर बढ़ाया। जहाँ प्राय: शिकार खेलने जाया करता, वहीं जाकर बैठ गया। आज वह बहुत दिनों में इधर आया है। कुछ ही दूरी पर देखा कि साखू के वृक्ष की छाया में एक सुकुमार शरीर पड़ा है। सिरहाने तकिया का काम हाथ दे रहा है। घनश्याम ने अभी कड़ी चोट खाई है। करुण-कमल का उसके आर्द्र मानस में विकास हो गया था। उसने समीप जाकर देखा कि वह रमणी और कोई नहीं है, वह रानी है, जिसे उसने बहुत दिन हुए एक अनोखे ढंग में देखा था। घनश्याम की आहट पाते ही रानी उठ बैठी। घनश्याम ने पूछा—'आप कौन हैं? क्यों यहाँ पड़ी हैं?'

रानी—'मैं केतकी-वन की रानी हूँ।'

'तब ऐसे क्यों?'

'समय की प्रतीक्षा में पड़ी हूँ।'

'कैसा समय?'

'आपसे क्या काम? क्या शिकार खेलने आए हैं?'

'नहीं देवी! आज स्वयं शिकार हो गया हूँ।'

'तब तो आप शीघ्र ही शहर की ओर पलटेंगे। क्या किसी भिल्लनी के नयन- बाण लगे हैं? किन्तु नहीं, मैं भूल कर रही हूँ। उन बेचारियों को क्षुधा-ज्वाला ने जला रखा है। ओह, वह गढ़े में धँसी हुई आँखें अब किसी को आकर्षित करने की सामर्थ्य नहीं रखतीं! हे भगवान्, मैं किसलिए पहाड़ी से उतरकर आई हूँ।'

'देवी! आपका अभिप्राय क्या है, मैं समझ न सका। क्या ऊपर अकाल है, दुर्भिक्ष है?'

'नहीं-नहीं, ईश्वर का प्रकोप है, पवित्रता का अभिशाप है, करुणा की वीभत्स मूर्ति का दर्शन है।'

'तब आपकी क्या इच्छा है?'

'मैं वहाँ की रानी हूँ। मेरे वस्त्र-आभूषण-भण्डार में जो कुछ था, सब बेचकर तीन महीने किसी प्रकार उन्हें खिला सकी, अब मेरे पास केवल इस वस्त्र को छोड़कर और कुछ नहीं रहा कि विक्रय करके एक भी क्षुधित पेट की ज्वाला बुझाती, इसलिए...।'

'क्या?'

'शहर चलूँगी। सुना है कि वहाँ रूप का भी दाम मिलता है। यदि कुछ मिल सके...'

'तब?'

'तो इसे भी बेच दूँगी। अनाथ बालकों को इससे कुछ तो सहायता पहुँच सकेगी। क्यों, क्या मेरा रूप बिकने योग्य नहीं है?'

युवक घनश्याम इसका उत्तर देने में असमर्थ था। कुछ दिन पहले वह अपना सर्वस्व देकर भी ऐसा रूप क्रय करने को प्रस्तुत हो जाता। आज वह अपनी स्त्री के वियोग में बड़ा ही सीधा, धार्मिक, निरीह एवं परोपकारी हो गया था। आर्त्त मुमुक्षु की तरह उसे न जाने किस वस्तु की खोज थी।

घनश्याम ने कहा—'मैं क्या उत्तर दूँ?'

'क्यों? क्या दाम न लगेगा? हाँ तुम आज किस वेश में हो? क्या सोचते हो? बोलते क्यों नहीं?'

'मेरी स्त्री का शरीरान्त हो गया।'

'तब तो अच्छा हुआ, तुम नगर के धनी हो। तुम्हें तो रूप की आवश्यकता होती होगी। क्या इसे क्रय करोगे?'

घनश्याम ने हाथ जोड़कर सिर नीचा कर लिया। तब उस रानी ने कहा—'उस दिन तो एक भिल्लनी के रूप पर मरते थे। क्यों, आज क्या हुआ?'

'देवी, मेरा साहस नहीं है—वह पाप का वेग था।'

'छिः, पाप के लिए साहस था और पुण्य के लिए नहीं?'

घनश्याम रो पड़ा और बोला—'क्षमा कीजिएगा। पुण्य किस प्रकार सम्पादित होता है, मुझे नहीं मालूम। किन्तु इसे पुण्य कहने में...।'

'संकोच होता है। क्यों?'

इसी समय दो-तीन बालक, चार-पाँच स्त्रियाँ और छः -सात भील अनाहार- क्लिष्ट, शीर्ण कलेवर पवन के बल से हिलते-डुलते रानी के सामने आकर खड़े हो गए।

रानी ने कहा—'क्यों, अब पाप की परिभाषा करोगे?'

घनश्याम ने काँपकर कहा—'नहीं, प्रायश्चित करूँगा, उस दिन के पाप का प्रायश्चित्त।'

युवक घनश्याम वेग से उठ खड़ा हुआ, बोला—'बहन, तुमने मेरे जीवन को अवलम्ब दिया है। मैं निरुद्देश्य हो रहा था, कर्त्तव्य नहीं सूझ पड़ता था। आपको रूप- विक्रय न करना पड़ेगा। देवी! मैं सन्ध्या तक आ जाऊँगा।

'सन्ध्या तक?'

'और भी पहले।'

बालक रोने लगे—'रानी माँ, अब नहीं रहा जाता। 'घनश्याम से भी नहीं रहा गया, वह भागा।

घनश्याम की पापभूमि, देखते-देखते गाड़ी और छकड़ों से भर गई, बाजार लग गया, रानी के प्रबन्ध में घनश्याम ने वहीं पर अकाल-पीड़ितों की सेवा आरम्भ कर दी।

जो घटना उसे बार-बार स्मरण होती थी, उसी का यह प्रायश्चित था। घनश्याम ने उसी भिल्लनी को प्रधान प्रबन्ध करने वाली देखकर आश्चर्य किया। उसे न जाने क्यों हर्ष और उत्साह दोनों हुए।

सहयोग

मनोरमा, एक भूल से सचेत होकर जब तक उसे सुधारने में लगती है, तब तक उसकी दूसरी भूल उसे अपनी मनुष्यता पर ही सन्देह दिलाने लगती है। प्रतिदिन प्रतिक्षण भूल की अविच्छिन्न श्रृंखला मानव-जीवन को जकड़े हुए है, यह उसने कभी हृदयंगम नहीं किया। भ्रम को उसने शत्रु के रूप में देखा। वह उससे प्रति-पल शंकित और संदिग्ध रहने लगी। उसकी स्वाभाविक सरलता, जो बनावटी भ्रम उत्पन्न कर दिया करती थी और उसके अस्तित्व में सुन्दरता पालिश कर दिया करती थी, अब उससे बिछुड़ने लगी। वह एक बनावटी रूप और आवभगत को अपना आभरण समझने लगी।

मोहन, एक हृदय-हीन युवक उसे दिल्ली से ब्याह लाया था। उसकी स्वाभाविकता ने अपने आतंक से क्रूर शासन करके उसे आत्मचिन्ता शून्य पतिगत-प्राणा बनाने की उत्कट अभिलाषा से हृदय-हीन कल से चलती-फिरती हुई पुतली बना डाला और वह इसी में अपनी विजय और पौरुष की पराकाष्ठा समझने लगा था।

धीरे-धीरे अब मनोरमा में अपना निज का कुछ नहीं रहा। वह उसे एक प्रकार से भूल- सी गई थी। दिल्ली के समीप का यमुना तट का वह गाँव, जिसमें वह पली थी, बढ़ी थी, अब उसे कुछ विस्मृत-सा हो चला था। वह ब्याह करने के बाद द्विरागमन के अवसर पर जबसे अपनी ससुराल आई थी, वह एक अद्‌भुत दृश्य था। मनुष्य-समाज में पुरुषों के लिए वह कोई बड़ी बात न थी, किन्तु जब उन्हें घर छोड़कर कभी किसी काम से परदेश जाना पड़ता है, तभी उनकी उस कथा के अधम अंश का आभास सूचित होता है। वह सेवा और स्नेहवृत्तिवाली स्त्रियाँ ही कर सकती हैं। जहाँ अपना कोई नहीं है, जिससे कभी की जान-पहचान नहीं, जिस स्थान पर केवल वधू-दर्शन का कुतूहल मात्र उसकी अभ्यर्थना करने वाला है, वहाँ वह रोते और सिसकते किसी साहस से आई और किसी को अपने रूप से किसी को विनय से, किसी

को स्नेह से उसने वश करना आरम्भ किया। उसे सफलता भी मिली। जिस तरह एक महाउद्योगी किसी भारी अनुसन्धान के लिए अपने घर से अलग होकर अपने सहारे अपना साधन बनाता है, या कथा-सरित्सागर के साहसिक लोग बैताल या विद्याधरत्त्व सिद्धि के असम्भवनीय साहस का परिचय देते हैं, वह इन प्रतिदिन साहसकारिणी मनुष्य-जाति की किशोरियों के सामने क्या है, जिनकी बुद्धि और अवस्था कुछ भी इसके अनुकूल नहीं है।

हिन्दू शास्त्रानुसार शूद्रा स्त्री मनोरमा ने आश्चर्यपूर्वक ससुराल में द्वितीय जन्म ग्रहण कर लिया। उसे द्विजन्मा कहने में कोई बाधा नहीं है।

मेला देखकर मोहन लौटा। उसकी अनुराग-लता, उसकी प्रगल्भा प्रेयसी ने उसका साथ नहीं दिया। सम्भवत: वह किसी विशेष आकर्षक पुरुष के साथ सहयोग करके चली गई। मेला फीका हो गया, नदी के पुल पर एक पत्थर पर वह बैठ गया। अँधेरी रात धीरे-धीरे गम्भीर होती जा रही थी। कोलाहल, जनरव और रसीली तानें विरल हो चलीं। ज्यों-ज्यों एकान्त होने लगा, मोहन की आतुरता बढ़ने लगी। नदी-तट की शरद-रजनी में एकान्त, किसी की अपेक्षा करने लगा। उसका हृदय चंचल हो चला। मोहन ने सोचा, इस समय क्या करें? विनोदी हृदय उत्सुक हुआ। वह चाहे जो हो, किसी की संगति को इस समय आवश्यक समझने लगा। प्यार न करने पर भी मनोरमा का ही ध्यान आया। समस्या हल होते देखकर वह घर की ओर चल पड़ा।

मनोरमा का त्योहार अभी बाकी था। नगर भर में एक नीरव अवसाद हो गया था किन्तु मनोरमा के हृदय में कोलाहल हो रहा था। ऐसे त्योहार के दिन भी वह मोहन को न खिला सकी थी। लैम्प के मन्द प्रकाश में खिड़की के जंगले के पास वह बैठी रही। विचारने को कुछ भी उसके पास न था। केवल स्वामी की आशा में दास के समान वह उत्कंठित बैठी थी। दरवाजा खटका, वह उठी, चतुर दासी से भी अच्छी तरह उसने स्वामी की अभ्यर्थना, सेवा, आदर और सत्कार करने में अपने को लगा दिया। मोहन चुपचाप अपने ग्रासों के साथ वाग्युद्ध और दन्तघर्षण करने लगा। मनोरमा ने भूलकर भी यह न पूछा कि तुम इतनी देर कहाँ थे? क्यों नहीं आए? न वह रूठी, न वह ऐंठी, गुरुमान की कौन कहे, लघुमान का छींटा नहीं। मोहन को यह और असह्य हो गया। उसने समझा कि हम इस योग्य भी नहीं रहे कि हमसे यह पूछे—'तुम कहाँ इतनी देर मरते थे?' पत्नी का अपमान उसे और यन्त्रणा देने लगा। वह भोजन करते-करते अकस्मात् रुक गया। मनोरमा ने पूछा—'क्या दूध ले आऊँ, अब और कुछ नहीं लीजिएगा?'

साधारण प्रश्न था, किन्तु मोहन को प्रतीत हुआ कि यह तो अतिथि की-सी अभ्यर्थना है, गृहस्थ की अपने घर की-सी नहीं। वह चट बोल उठा—'नहीं, आज दूध नहीं लूँगा।' किन्तु

मनोरमा तो तब तक दूध का कटोरा लेकर सामने आ गई, बोली—'थोड़ा-सा लीजिए, अभी गरम है।'

मोहन बार-बार सोचता था कि कोई ऐसी बात निकले, जिसमें मुझे कुछ करना पड़े और मनोरमा मानिनी बने, मैं उसे मनाऊँ; किन्तु मनोरमा में वह मिट्टी ही नहीं रही। मनोरमा तो कल की पुतली हो गई थी। मोहन ने—'दूध अभी गरम है 'इसी में से देर होने का व्यंग्य निकाल लिया और कहा—'हाँ, आज मेला देखने चला गया था, इसी में देर हुई।'

किन्तु वहाँ कैफियत तो कोई लेता न था, देने के लिए प्रस्तुत अवश्य था। मनोरमा ने कहा—'नहीं, अभी देर तो नहीं हुई। आध घण्टा हुआ होगा कि दूध उतारा गया है।'

मोहन हताश हो गया। चुपचाप पलंग पर जा लेटा। मनोरमा ने उधर ध्यान भी नहीं दिया। वह चतुरता से गृहस्थी की सारी वस्तुओं को समेटने लगी। थोड़ी देर में इससे निबटकर वह अपनी भूल समझ गई। चट पान लगाने बैठ गई। मोहन ने यह देखकर कहा—'नहीं, मैं पान इस समय न खाऊंगा।'

मनोरमा ने भयभीत स्वर से कहा—'बिखरी हुई चीजें इकट्ठी न कर लेती तो बिल्ली-चूहे उसे खराब कर देते। थोड़ी देर हुई है, क्षमा कीजिए। दो पान तो अवश्य खा लीजिए।'

बाध्य होकर मोहन को दो पान खाने पड़े। अब मनोरमा पैर दबाने बैठी। वेश्या तिरस्कृत मोहन घबरा उठा। वह इस सेवा से कब छुट्टी पाए? इस सहयोग से क्या बस चले। उसने विचारा कि मनोरमा को मैंने ही तो ऐसा बनाना चाहा था। अब वह ऐसी हुई, तो मुझे अब विरक्ति क्यों है? इसके चरित्र का यह अंश क्यों नहीं रुचता— किसी ने उसके कान में धीरे-से कहा—'तुम तो अपनी स्त्री को दासी बनाना चाहते थे, जो वास्तव में तुम्हारी अन्तरात्मा को ईप्सित नहीं था। तुम्हारी कुप्रवृत्तियों की वह उत्तेजना थी कि वह तुम्हारी चिर-संगिनी न होकर दासी के समान आज्ञाकारिणी मात्र रहे। वही हुआ। अब क्यों झँखते हो!' अकस्मात् मोहन उठ बैठा। मोहन और मनोरमा एक-दूसरे के पैर पकड़े हुए थे।

प्रतिध्वनि

मनुष्य की चिता जल जाती है और बुझ भी जाती है, परन्तु उसकी छाती की जलन, द्वेष की ज्वाला, सम्भव है उसके बाद भी धक्-धक् करती हुई जला करे।

तारा जिस दिन विधवा हुई, जिस समय सब लोग रो-पीट रहे थे, उसकी ननद ने, भाई के मरने पर भी, रोदन के साथ व्यंग्य स्वर में कहा—"अरे मैया रे, किसका पाप किसे खा गया रे!"....अभी आसन्न वैधव्य ठेलकर, अपने कानों को ऊँचा करके, तारा ने वह तीक्ष्ण व्यंग्य रोदन के कोलाहल में भी सुन लिया था।

तारा सम्पन्न थी, इसलिए वैधव्य उसे दूर ही से डराकर चला जाता। उसका पूर्ण अनुभव वह कभी न कर सकी। हाँ, ननद रामा अपनी दरिद्रता के दिन अपनी कन्या श्यामा के साथ किसी तरह काटने लगी। दहेज मिलने की निराशा से कोई ब्याह करने के लिए प्रस्तुत न होता। श्यामा चौदह बरस की हो चली। बहुत चेष्टा करके भी रामा उसका ब्याह न कर सकी। वह चल बसी।

श्यामा निस्सहाय अकेली हो गई, पर जीवन के जितने दिन हैं, वे कारावासी के समान काटने ही होंगे। वह अकेली ही गंगा-तट पर अपनी बारी से सटे हुए कच्चे झोंपड़े में रहने लगी।

मन्नी नाम की एक बुढ़िया, जिसे 'दादी' कहती थी, रात को उसके पास सो रहती और न जाने कहाँ से, कैसे उसके खाने-पीने का कुछ प्रबन्ध कर ही देती। धीरे- धीरे दरिद्रता के सब अवशिष्ट चिह्न बिककर श्यामा के पेट में चले गए।

पर, उसकी आम की बारी अभी नीलाम होने के लिए हरी-भरी थी!

कोमल आतप गंगा के शीतल शरीर में अभी ऊष्मा उत्पन्न करने में असमर्थ था। नवीन किसलय उससे चमक उठे थे। वसन्त की किरणों की चोट से कोयल कुहुक उठी। आम की कैरियों के गुच्छे हिलने लगे। उस आम की बारी में माधव- ऋतु का डेरा था और श्यामा के कमनीय कलेवर में यौवन था।

श्यामा अपने कच्चे घर के द्वार पर खड़ी हुई मेघ-संक्रांति का पर्व-स्नान करने वालों को कगार के नीचे देख रही थी। समीप होने पर भी वह मनुष्यों की भीड़ उसे चींटियाँ रेंगती हुई जैसी दिखाई पड़ती थी। मन्नी ने आते ही उसका हाथ पकड़कर कहा—"चलो बेटी, हम लोग भी स्नान कर आवें।"

उसने कहा—"नहीं दादी, आज अंग—अंग टूट रहा है, जैसे ज्वर आने को है।"

मन्नी चली गई।

तारा स्नान करके दासी के साथ कगारे के ऊपर चढ़ने लगी। श्यामा की बारी के पास से ही पथ था। किसी को वहाँ न देखकर तारा ने सन्तुष्ट होकर सांस ली। कैरियों से गदराई हुई डाली से उसका सिर लग गया। डाली राह में झुकी पड़ती थी। तारा ने देखा, कोई नहीं है; हाथ बढ़ाकर कुछ कैरियाँ तोड़ लीं।

सहसा किसी ने कहा—"और तोड़ लो मामी, कल तो यह नीलाम ही होगा!"

तारा की अग्नि-बाण-सी आँखें किसी को जला देने के लिए खोजने लगीं। फिर उसके हृदय में वही बहुत दिन की बात प्रतिध्वनित होने लगी—"किसका पाप किसको खा गया, रे!"—तारा चौंक उठी। उसने सोचा, रामा की कन्या व्यंग्य कर रही है— भीख लेने के लिए कह रही है। तारा होंठ चबाती हुई चली गई।

एक सौ पांच—एक,

एक सौ पांच—दो,

एक सौ पांच रुपये—तीन!

बोली हो गई। अमीन ने पूछा—"नीलामी का चौथाई रुपया कौन जमा करता है?"

एक गठीले युवक ने कहा—"चौथाई नहीं, कुल रुपये लीजिए।"तारा के नाम की रसीद बना रुपया सामने रख दिया गया।

श्यामा एक आम के वृक्ष के नीचे चुपचाप बैठी थी। उसे और कुछ नहीं सुनाई पड़ता था, केवल डुग्गियों के साथ एक-दो-तीन की प्रतिध्वनि कानों में गूंज रही थी। एक समझदार मनुष्य ने कहा—"चलो, अच्छा ही हुआ, तारा ने अनाथ लड़की के बैठने का ठिकाना तो बना रहने दिया; नहीं तो गंगा किनारे का घर और तीन बीघे की बारी, एक हजार पांच रुपये में! तारा ने बहुत अच्छा किया।"

बुढ़िया मन्नी ने कहा—"भगवान् जाने, ठिकाना कहाँ होगा!"

श्यामा चुपचाप सुनती रही। संध्या हो गई। जिनका उसी अमराई में नीड़ था, उन पक्षियों का झुंड कलरव करता हुआ घर लौटने लगा पर श्यामा न हिली; उसे भूल गया कि उसके भी घर है।

बुढ़िया के साथ अमीन साहब आकर खड़े हो गए। अमीन एक सुन्दर कहे जाने योग्य युवक थे और उनका यह सहज विश्वास था कि कोई भी स्त्री हो, मुझे एक बार अवश्य देखेगी। श्यामा के सौन्दर्य को तो दारिद्रय ने ढक लिया था; पर उसका यौवन छिपाने के योग्य न था। कुमार यौवन अपनी क्रीड़ा में विह्वल था। अमीन ने कहा—"मन्नी पूछो, मैं रुपया दे दूं—अभी एक महीने की अवधि है, रुपया दे देने से नीलाम रुक जाएगा!"

श्यामा ने एक बार तीखी आँखों से अमीन की ओर देखा। वह पुष्ट कलेवर अमीन, उस अनाथ बालिका की दृष्टि न सह सका, धीरे से चला गया। मन्नी ने देखा, बरसात की—सी गीली चिता श्यामा की आँखों में जल रही है। मन्नी का साहस न हुआ कि उससे घर चलने के लिए कहे। उसने सोचा, ठहरकर आऊँगी तो इसे घर लिवा जाऊँगी, परन्तु जब वह लौटकर आई, तो रजनी के अंधकार में बहुत खोजने पर भी श्यामा को न पा सकी।

तारा का उत्तराधिकारी हुआ—उसके भाई का पुत्र प्रकाश। अकस्मात् सम्पत्ति मिल जाने से जैसा प्राय: हुआ करता है, वही हुआ—प्रकाश अपने-आपे में न रह सका। वह उस देहात में प्रथम श्रेणी का विलासी बन बैठा। उसने तारा के पहले घर से कोस-भर दूर श्यामा की बारी को भली-भांति सजाया; उसका कच्चा घर तोड़कर बंगला बन गया। अमराई में सड़कें और क्यारियाँ दौड़ने लगीं। यहीं प्रकाश बाबू की बैठक जमी। अब इसे उसके नौकर 'छावनी' कहते थे।

आषाढ़ का महीना था। सबेरे ही बड़ी उमस थी। पुरवाई से घनमंडल स्थिर हो रहा था। वर्षा होने की पूरी सम्भावना थी। पक्षियों के झुंड आकाश में अस्तव्यस्त घूम रहे थे। एक पगली गंगा के तट के ऊपर की ओर चढ़ रही थी। वह अपने प्रत्येक पाद-विक्षेप पर एक-दो-तीन अस्फुट स्वर से कह देती, फिर आकाश की ओर देखने लगती थी। अमराई के खुले फाटक से वह घुस आई और पास के वृक्षों के नीचे घूमती हुई "एक-दो-तीन"करके गिनने लगी।

लहरीले पवन का एक झोंका आया; तिरछी बूँदों की एक बाढ़ पड़ गई। दो- चार आम भी चू पड़े। पगली घबरा गई। तीन से अधिक वह गिनना ही नहीं जानती थी। इधर बूँदों को गिने कि आमों को! बड़ी गड़बड़ी हुई, पर वह मेघ का टुकड़ा बरसता हुआ निकल गया। पगली एक बार स्वस्थ हो गई।

महोखा एक डाल से बोलने लगा। डुग्गी के समान उसका "डूप-डूप-डूप" शब्द पगली को पहचाना हुआ-सा मालूम पड़ा। वह फिर गिनने लगी—एक-दो- तीन? उसके चुप हो जाने पर पगली ने डालों की ओर देखा और प्रसन्न होकर बोली—एक-दो-तीन इस बार उसकी गिनती में बड़ा उल्लास था, विस्मय था और हर्ष भी। उसने एक ही डाल में पके हुए तीन आमों को वृंत्तों-सहित तोड़ लिया और उन्हें झुकाते हुए गिनने लगी। पगली इस बार सचमुच बालिका बन गई, जैसे खिलौने के साथ खेलने लगी।

माली आ गया। उसने गाली दी, मारने के लिए हाथ उठाया। पगली अपना खेल छोड़कर चुपचाप उसकी ओर एकटक देखने लगी। वह उसका हाथ पकड़कर प्रकाश बाबू के पास ले चला।

प्रकाश यक्ष्मा से पीड़ित होकर इन दिनों यहाँ निरन्तर रहने लगा था। वह खांसता जाता था और तकिए के सहारे बैठा हुआ पीकदान में रक्त और कफ थूकता जाता था। कंकाल-सा शरीर पीला पड़ गया था। मुख में केवल नाक और बड़ी-बड़ी आंखें अपना अस्तित्व चिल्लाकर कह रही थीं। पगली को पकड़कर माली उसके सामने ले आया।

विलासी प्रकाश ने देखा पागल यौवन अभी उस पगली के पीछे लगा था। कामुक

प्रकाश को आज अपने रोग पर क्रोध हुआ और पूर्ण मात्रा में हुआ, पर क्रोध धक्का खाकर पगली की ओर चला आया। प्रकाश ने आम देखकर ही समझ लिया और फूहड़ गालियों की बौछार से उसकी अभ्यर्थना की।

पगली ने कहा—"यह किस पाप का फल है? तू जानता है, इसे कौन खाएगा? बोल! कौन मरेगा? बोल! एक-दो-तीन।"

''चोरी को पागलपन में छिपाना चाहती है! अभी तो तुझे बीसों चाहने वाले मिलेंगे! चोरी क्यों करती है?"—प्रकाश ने कहा।

एक बार पगली का पागलपन, लाल वस्त्र पहनकर उसकी आँखों में नाच उठा। उसने आम तोड़-तोड़ कर प्रकाश के क्षय-जर्जर हृदय पर खींचकर मारते हुए गिना— एक-दो-तीन! प्रकाश तकिए पर चित्त लेटकर हिचकियाँ लेने लगा और पगली हँसते हुए गिनने लगी —एक-दो-तीन। उनकी प्रतिध्वनि अमराई में गूँज उठी।

आकाशदीप

"बन्दी!"

"क्या है? सोने दो।"

"मुक्त होना चाहते हो?"

"अभी नहीं, निद्रा खुलने पर, चुप रहो।"

"फिर अवसर न मिलेगा।"

"बड़ा शीत है, कहीं से एक कम्बल डालकर कोई शीत से मुक्त करता।"

"आँधी की सम्भावना है। यही अवसर है। आज मेरे बन्धन शिथिल हैं।"

"तो क्या तुम भी बन्दी हो?"

"हाँ, धीरे बोलो, इस नाव पर केवल दस नाविक और प्रहरी हैं।"

"शस्त्र मिलेगा?"

"मिल जाएगा। पोत से सम्बद्ध रज्जु काट सकोगे?"

"हाँ।"

समुद्र में हिलोरें उठने लगीं। दोनों बन्दी आपस में टकराने लगे। पहले बन्दी ने अपने को स्वतन्त्र कर लिया। दूसरे का बन्धन खोलने का प्रयत्न करने लगा। लहरों के धक्के एक-दूसरे को स्पर्श से पुलकित कर रहे थे। मुक्ति की आशा—स्नेह का असम्भावित आलिंगन। दोनों ही अँधकार में मुक्त हो गए। दूसरे बन्दी ने हर्षातिरेक से उसको गले से लगा लिया। सहसा उस बन्दी ने कहा—"यह क्या? तुम स्त्री हो?"

"क्या स्त्री होना कोई पाप है?"—अपने को अलग करते हुए स्त्री ने कहा।

"शस्त्र कहाँ है—तुम्हारा नाम?"

"चंपा।"

तारक—खचित नील अम्बर और समुद्र के अवकाश में पवन ऊधम मचा रहा था। अँधकार से मिलकर पवन दुष्ट हो रहा था। समुद्र में आन्दोलन था। नौका लहरों में विकल

थी। स्त्री सतर्कता से लुढ़कने लगी। एक मतवाले नाविक के शरीर से टकराती हुई सावधानी से उसका कृपाण निकालकर, फिर लुढ़कते हुए, बन्दी के समीप पहुँच गई। सहसा पोत से पथ-प्रदर्शक ने चिल्लाकर कहा—"आँधी!"

आपत्ति-सूचक तूर्य बजने लगा। सब सावधान होने लगे। बन्दी युवक उसी तरह पड़ा रहा। किसी ने रस्सी पकड़ी, कोई पाल खोल रहा था, पर युवक बन्दी ढुलककर उस रज्जु के पास पहुँचा, जो पोत से संलग्न थी। तारे ढँक गए। तरंगें उद्वेलित हुईं, समुद्र गरजने लगा। भीषण आँधी, पिशाचिनी के समान नाव को अपने हाथों में लेकर कन्दुक-क्रीड़ा और अट्टहास करने लगी।

एक झटके के साथ ही नाव स्वतन्त्र थी। उस संकट में भी दोनों बन्दी खिलखिलाकर हँस पड़े। आँधी के हाहाकार में उसे कोई न सुन सका।

अनन्त जलनिधि में उषा का मधुर आलोक फूट उठा। सुनहली किरणों और लहरों की कोमल सृष्टि मुस्कराने लगी। सागर शान्त था। नाविकों ने देखा, पोत का पता नहीं। बन्दी मुक्त हैं।

नायक ने कहा—"बुधगुप्त! तुमको मुक्त किसने किया?"

कृपाण दिखाकर बुधगुप्त ने कहा—"इसने।"

नायक ने कहा—"तो तुम्हें फिर बन्दी बनाऊँगा।"

"किसके लिए? पोताध्यक्ष मणिभद्र अतल जल में होगा—नायक! अब इस नौका का स्वामी मैं हूँ।"

"तुम? जलदस्यु बुधगुप्त? कदापि नहीं।"—चौंककर नायक ने कहा और वह अपनी कृपाण टटोलने लगा! चंपा ने इसके पहले उस पर अधिकार कर लिया था। वह क्रोध से उछल पड़ा।

"तो तुम द्वन्द्वयुद्ध के लिए प्रस्तुत हो जाओ; जो विजयी होगा, वह स्वामी होगा।"—इतना कहकर बुधगुप्त ने कृपाण देने का संकेत किया। चंपा ने कृपाण नायक के हाथ में दे दी।

भीषण घात-प्रतिघात आरम्भ हुआ। दोनों कुशल, दोनों त्वरित गतिवाले थे। बड़ी निपुणता से बुधगुप्त ने अपनी कृपाण दाँतों से पकड़कर अपने दोनों हाथ स्वतन्त्र कर लिए। चंपा भय और विस्मय से देखने लगी। नाविक प्रसन्न हो गए, परन्तु बुधगुप्त ने लाघव से नायक का कृपाणवाला हाथ पकड़ लिया और विकट हुँकार से दूसरा हाथ कटि में डाल, उसे गिरा दिया। दूसरे ही क्षण प्रभात की किरणों में बुधगुप्त की विजयी कृपाण उसके हाथों में चमक उठी। नायक की कातर आंखें प्राण-भिक्षा माँगने लगीं।

बुधगुप्त ने कहा—"बोलो, अब स्वीकार है कि नहीं?"

"मैं अनुचर हूँ, वरुणदेव की शपथ। मैं विश्वासघात नहीं करूँगा।"बुधगुप्त ने उसे छोड़ दिया।

चंपा ने युवक जलदस्यु के समीप आकर उसके क्षतों को अपनी स्निग्ध दृष्टि और

कोमल करों से वेदना-विहीन कर दिया। बुधगुप्त के सुगठित शरीर पर रक्त- बिन्दु विजय-तिलक कर रहे थे।

विश्राम लेकर बुधगुप्त ने पूछा “हम लोग कहाँ होंगे?”

“बालीद्वीप से बहुत दूर सम्भवत: एक नवीन द्वीप के पास, जिसमें अभी हम लोगों का बहुत कम आना-जाना होता है। सिंहल के वणिकों का वहाँ प्राधान्य है।”

“कितने दिनों में हम लोग वहाँ पहुँचेंगे?”

“अनुकूल पवन मिलने पर दो दिन में। तब तक के लिए खाद्य का अभाव न होगा।”

सहसा नायक ने नाविकों को डांट लगाने की आज्ञा दी और स्वयं पतवार पकड़कर बैठ गया। बुधगुप्त के पूछने पर उसने कहा—“यहाँ एक जलमग्न शिलाखंड है। सावधान न रहने से नाव टकराने का भय है।”

“तुम्हें इन लोगों ने बन्दी क्यों बनाया?”

“वणिक् मणिभद्र की पाप-वासना ने।”

“तुम्हारा घर कहाँ है?”

“जाह्नवी के तट पर। चंपा-नगरी की एक क्षत्रिय बालिका हूँ। पिता इसी मणिभद्र के यहाँ प्रहरी का काम करते थे। माता का देहावसान हो जाने पर मैं भी पिता के साथ नाव पर ही रहने लगी। आठ बरस से समुद्र ही मेरा घर है। तुम्हारे आक्रमण के समय मेरे पिता ने ही सात दस्युओं को मारकर जल-समाधि ली। एक मास हुआ, मैं इस नील नभ के नीचे, नील जलनिधि के ऊपर, एक भयानक अनन्तता में निस्सहाय हूँ—अनाथ हूँ। मणिभद्र ने मुझसे एक दिन घृणित प्रस्ताव किया। मैंने उसे गालियाँ सुनाईं। उसी दिन से बन्दी बना दी गई।”—चंपा रोष से जल रही थी।

“मैं भी ताम्रलिप्ति का एक क्षत्रिय हूँ, चंपा! परन्तु दुर्भाग्य से जलदस्यु बनकर जीवन बिताता हूँ। अब तुम क्या करोगी?”

“मैं अपने अदृष्ट को अनिर्दिष्ट ही रहने दूंगी। वह जहाँ ले जाए।”—चंपा की आँखें निस्सीम प्रदेश में निरुद्देश्य थीं। किसी आकांक्षा के लाल डोरे न थे। धवल अपांगों में बालकों के सदृश विश्वास था। हत्या-व्यवसायी दस्यु भी उसे देखकर कांप गया। उसके मन में सम्भ्रमपूर्ण श्रद्धा यौवन की पहली लहरों को जगाने लगी। समुद्र- वक्ष पर विलम्बमयी राग-रंजित संध्या थिरकने लगी। चंपा के असंयत कुन्तल उसकी पीठ पर बिखरे थे। दुर्दान्त दस्यु ने देखा, अपनी महिमा में अलौकिक एक तरुण बालिका! वह विस्मय से अपने हृदय को टटोलने लगा। उसे एक नई वस्तु का पता चला। वह थी—कोमलता!

उसी समय नायक ने कहा—“हम लोग द्वीप के पास पहुँच गए।”

बेला से नाव टकराई। चंपा निर्भीकता से कूद पड़ी। मांझी भी उतरे। बुधगुप्त ने कहा—“जब इसका कोई नाम नहीं है, तो हम लोग इसे चंपा-द्वीप कहेंगे।”

चंपा हँस पड़ी।

पांच बरस बाद—

शरद के धवल नक्षत्र नील गगन में झिलमिला रहे थे। चंद्र की उज्ज्वल विजय पर अन्तरिक्ष में शरदलक्ष्मी ने आशीर्वाद के फूलों और खीलों को बिखेर दिया।

चंपा के एक उच्चसौध पर बैठी हुई तरुणी चंपा दीपक जला रही थी। बड़े यत्न से अभ्रक की मंजूषा में दीप धरकर उसने अपनी सुकुमार उँगलियों से डोरी खींची। वह दीपाधार ऊपर चढ़ने लगा। भोली—भोली आँखें उसे ऊपर चढ़ते बड़े हर्ष से देख रही थीं। डोरी धीरे-धीरे खींची गई। चंपा की कामना थी कि उसका आकाश- दीप नक्षत्रों से हिलमिल जाए; किन्तु वैसा होना असम्भव था। उसने आशाभरी आँखें फिरा लीं।

सामने जल-राशि का रजत शृंगार था। वरुण बालिकाओं के लिए लहरों से हीरे और नीलम की क्रीड़ा शैल-मालाएँ बन रही थीं और वे मायाविनी छलनाएँ अपनी हँसी का कलनाद छोड़कर छिप जाती थीं। दूर-दूर से धीवरों का वंशी-झनकार उनके संगीत-सा मुखरित होता था। चंपा ने देखा कि तरल संकुल जल-राशि में उसके कंडील का प्रतिबिम्ब अस्त-व्यस्त था! यह अपनी पूर्णता के लिए सैकड़ों चक्कर काटता था। वह अनमनी होकर उठ खड़ी हुई। किसी को पास न देखकर पुकारा— "जया!"

एक श्यामा युवती सामने आकर खड़ी हुई। वह जंगली थी। नील नभोमंडल- से मुख में शुद्ध नक्षत्रों की पंक्ति के समान उसके दाँत हँसते ही रहते। वह चंपा को रानी कहती; बुधगुप्त की आज्ञा थी।

"महानाविक कब तक आवेंगे, बाहर पूछो तो।" चंपा ने कहा। जया चली गई।

दूरागत पवन चंपा के अंचल में विश्राम लेना चाहता था। उसके हृदय में गुदगुदी हो रही थी। आज न जाने क्यों वह बेसुध थी। एक दीर्घकाय दृढ़ पुरुष ने उसकी पीठ पर हाथ रखकर चमत्कृत कर दिया। उसने फिर कर कहा—"बुधगुप्त!"

"बावली हो क्या? यहाँ बैठी हुई अभी तक दीप जला रही हो, तुम्हें यह काम करना है?"

"क्षीरनिधिशायी अनन्त की प्रसन्नता के लिए क्या दासियों से आकाश-दीप जलवाऊँ"

"हँसी आती है। तुम किसको दीप जलाकर पथ दिखलाना चाहती हो? उसको, जिसको तुमने भगवान् मान लिया है?"

"हाँ, वह भी कभी भटकते हैं, भूलते हैं; नहीं तो, बुधगुप्त को इतना ऐश्वर्य क्यों देते?"

"तो बुरा क्या हुआ, इस द्वीप की अधीश्वरी चंपा रानी!"

"मुझे इस बन्दीगृह से मुक्त करो। अब तो बाली, जावा और सुमात्रा का वाणिज्य केवल तुम्हारे ही अधिकार में है महानाविक! परन्तु मुझे उन दिनों की स्मृति सुहावनी लगती है, जब तुम्हारे पास एक ही नाव थी और चंपा के उपकूल में पण्य लादकर हम लोग सुखी जीवन बिताते थे—इस जल में अगणित बार हम लोगों की तरी अलोकमय प्रभात में तारिकाओं की मधुर ज्योति में थिरकती थी। बुधगुप्त! उस विजन अनन्त में जब मांझी सो जाते थे, दीपक बुझ जाते थे, हम-तुम परिश्रम से थककर पालों में शरीर लपेटकर एक-दूसरे का मुँह क्यों देखते थे? वह नक्षत्रों की मधुर छाया..."

“तो चंपा! अब उससे भी अच्छे ढंग से हम लोग विचर सकते हैं। तुम मेरी प्राणदात्री हो, मेरी सर्वस्व हो।”

“नहीं-नहीं, तुमने दस्युवृत्ति छोड़ दी, परन्तु हृदय वैसा ही अकरुण, सतृष्ण और ज्वलनशील है। तुम भगवान् के नाम पर हँसी उड़ाते हो। मेरे आकाश-दीप पर व्यंग्य कर रहे हो। नाविक! उस प्रचंड आँधी में प्रकाश की एक-एक किरण के लिए हम लोग कितने व्याकुल थे। मुझे स्मरण है, जब मैं छोटी थी, मेरे पिता नौकरी पर समुद्र में जाते थे—मेरी माता, मिट्टी का दीपक बाँस की पिटारी में भगीरथी के तट पर बाँस के साथ ऊँचे टांग देती थी। उस समय वह प्रार्थना करती—‘भगवान्! मेरे पथ-भ्रष्ट नाविक को अँधकार में ठीक पथ पर ले चलना।’ और जब मेरे पिता बरसों पर लौटते तो कहते—‘साध्वी! तेरी प्रार्थना से भगवान् ने संकटों में मेरी रक्षा की है।’ वह गद्गद हो जाती। मेरी मां? आह नाविक! यह उसी की पुण्य-स्मृति है। मेरे पिता, वीर पिता की मृत्यु के निष्ठुर कारण, जल-दस्यु हट जाओ।”—सहसा चंपा का मुख क्रोध से भीषण होकर रंग बदलने लगा। महानाविक ने कभी यह रूप न देखा था। वह ठठा कर हँस पड़ा।

“यह क्या, चंपा? तुम अस्वस्थ हो जाओगी, सो रहो।”—कहता हुआ चला गया। चंपा मुट्ठी बाँधे उन्मादिनी-सी घूमती रही।

निर्जन समुद्र के उपकूल में वेला से टकराकर लहरें बिखर जाती थीं। पश्चिम का पथिक थक गया था। उसका मुख पीला पड़ गया। अपनी शान्त गम्भीर हलचल में जलनिधि विचार में निमग्न था। वह जैसे प्रकाश की उन्मलिन किरणों से विरक्त था।

चंपा और जया धीरे-धीरे उस तट पर आकर खड़ी हो गईं। तरंग से उठते हुए पवन ने उनके वसन को अस्त-व्यस्त कर दिया। जया के संकेत से एक छोटी-सी नौका आई। दोनों के उस पर बैठते ही नाविक उतर गया। जया नाव खेने लगी। चंपा मुग्ध-सी समुद्र के उदास वातावरण में अपने को मिश्रित कर देना चाहती थी।

“इतना जल! इतनी शीतलता! हृदय की प्यास न बुझी। पी सकूंगी? नहीं! तो जैसे वेला में चोट खाकर सिन्धु चिल्ला उठता है, उसी के समान रोदन करूँ? या जलते हुए स्वर्ण-गोलक सदृश अनन्त जल में डूबकर बुझ जाऊँ”—चंपा के देखते-देखते पीड़ा और ज्वलन से आरक्त बिम्ब धीरे-धीरे सिन्धु में चौथाई, आधा, फिर सम्पूर्ण विलीन हो गया। एक दीर्घ निश्वास लेकर चंपा ने मुँह फेर लिया। देखा, तो महानाविक का बजरा उसके पास है। बुधगुप्त ने झुककर हाथ बढ़ाया। चंपा उसके सहारे बजरे पर चढ़ गई। दोनों पास-पास बैठ गए।

“इतनी छोटी नाव पर इधर घूमना ठीक नहीं। पास ही वह जलमग्न शैल-खंड है। कहीं नाव टकरा जाती या ऊपर चढ़ जाती, चंपा तो?”

“अच्छा होता, बुधगुप्त! जल में बन्दी होना कठोर प्राचीरों से तो अच्छा है।”

“आह चंपा, तुम कितनी निर्दय हो! बुधगुप्त को आज्ञा देकर देखो तो, वह क्या नहीं कर सकता। जो तुम्हारे नए द्वीप की सृष्टि कर सकता है, नई प्रजा खोज सकता है नये राज्य

बना सकता है, उसकी परीक्षा लेकर देखो तो...। कहो, चंपा! वह कृपाण से अपना हृदय-पिंड निकाल अपने हाथों अतल जल में विसर्जन कर दे।"—महानाविक—जिसके नाम से बाली, जावा और चंपा का आकाश गूंजता था, पवन थर्राता था—घुटनों के बल चंपा के सामने छलछलाई आँखों से बैठा था।

सामने शैलमाला की चोटी पर हरियाली में विस्तृत जल-देश में, नील पिंगल सन्ध्या, प्रकृति की सहृदय कल्पना, विश्राम की शीतल छाया, स्वप्नलोक का सृजन करने लगी। उस मोहिनी के रहस्यपूर्ण नीलजाल का कुहक स्फुट हो उठा। जैसे मदिरा से सारा अन्तरिक्ष सिक्त हो गया। सृष्टि नील कमलों में भर उठी। उस सौरभ से पागल चंपा ने बुधगुप्त के दोनों हाथ पकड़ लिए। वहाँ एक आलिंगन हुआ, जैसे क्षितिज में आकाश और सिन्धु का, किन्तु परिरम्भ में सहसा चैतन्य होकर चंपा ने अपनी कंचुकी से एक कृपाण निकाल ली।

"बुधगुप्त! आज मैं अपने प्रतिशोध की कृपाण अतल जल में डुबो देती हूँ। हृदय ने छल किया, बार-बार धोखा दिया!"—चमककर वह कृपाण समुद्र का हृदय बेधती हुई विलीन हो गई।

"तो आज से मैं विश्वास करूँ, क्षमा कर दिया गया?"—आश्चर्य-कम्पित कंठ से महानाविक ने पूछा।

"विश्वास? कदापि नहीं, बुधगुप्त! जब मैं अपने हृदय पर विश्वास नहीं कर सकी, उसी ने धोखा दिया, तब मैं कैसे कहूँ? मैं तुम्हें घृणा करती हूँ, फिर भी तुम्हारे लिए मर सकती हूँ। अँधेर है जलदस्यु! तुम्हें प्यार करती हूँ।"—चंपा रो पड़ी।

वह स्वप्नों की रंगीन सन्ध्या, तुमसे अपनी आँखें बन्द करने लगी थी। दीर्घ निश्वास लेकर महानाविक ने कहा—"इस जीवन की पुण्यतम घड़ी की स्मृति में एक प्रकाश-गृह बनाऊँगा, चंपा! यहीं उस पहाड़ी पर। सम्भव है कि मेरे जीवन की धुँधली सन्ध्या उससे आलोकपूर्ण हो जाए!"

चंपा के दूसरे भाग में एक मनोरम शैलमाला थी। वह बहुत दूर तक सिंधुजल में निमग्न थी। सागर का चंचल जल उस पर उछलता हुआ उसे छिपाए था। आज उसी शैलमाला पर चंपा के आदि-निवासियों का समारोह था। उन सबों ने चंपा को वनदेवी-सा सजाया था। ताम्रलिप्ति के बहुत से सैनिक नाविकों की श्रेणी में वन-कुसुम-विभूषिता चंपा शिविकारूढ़ होकर जा रही थी।

शैल के एक ऊँचे शिखर पर चंपा के नाविकों को सावधान करने के लिए सुदृढ़ द्वीप-स्तम्भ बनवाया गया था। आज उसी का महोत्सव है। बुधगुप्त स्तम्भ के द्वार पर खड़ा था। शिविका से सहायता देकर चंपा को उसने उतारा। दोनों ने भीतर पदार्पण किया था कि बांसुरी और ढोल बजने लगे। पक्तियों में कुसुम-भूषण से सजी वन- बालाएँ फूल उछालती हुई नाचने लगीं।

दीप-स्तम्भ की ऊपरी खिड़की से यह देखती हुई चंपा ने जया से पूछा—"यह क्या है

जया? इतनी बालाएँ कहाँ से बटोर लाईं?”

“आज राजकुमारी का ब्याह है न?”—कहकर जया हँस दी।

बुधगुप्त विस्तृत जलनिधि की ओर देख रहा था। उसने झकझोरकर चंपा से पूछा—“क्या यह सच है?”

“यदि तुम्हारी इच्छा हो, तो यह सच भी हो सकता है, चंपा! कितने वर्षों से मैं ज्वालामुखी को अपनी छाती में दबाए हूँ।”

“चुप रहो, महानाविक क्या मुझे निस्सहाय और कंगाल जानकर तुमने आज सब प्रतिशोध लेना चाहा?”

“मैं तुम्हारे पिता का घातक नहीं हूँ, चंपा! वह एक दूसरे दस्यु के शस्त्र से मरे!”

“यदि मैं इसका विश्वास कर सकती। बुधगुप्त, वह दिन कितना सुन्दर होता, वह क्षण कितना स्पृहणीय! आह! तुम इस निष्ठुरता में भी कितने महान् होते!”

जया नीचे चली गई थी। स्तम्भ के संकीर्ण प्रकोष्ठ में बुधगुप्त और चंपा एकान्त में एक-दूसरे के सामने बैठे थे।

बुधगुप्त ने चंपा के पैर पकड़ लिए। उच्छ्वसित शब्दों में वह कहने लगा— चंपा, हम लोग जन्मभूमि—भारतवर्ष से कितनी दूर इन निरीह प्राणियों में इंद्र और शची के समान पूजित हैं, पर न जाने कौन अभिशाप हम लोगों को अभी तक अलग किए है। स्मरण होता है वह दार्शनिकों का देश! वह महिमा की प्रतिमा! मुझे वह स्मृति नित्य आकर्षित करती है; परन्तु मैं क्यों नहीं जाता? जानती हो, इतना महत्त्व प्राप्त करने पर भी मैं कंगाल हूँ! मेरा पत्थर-सा हृदय एक दिन सहसा तुम्हारे स्पर्श से चंद्रकांतमणि की तरह द्रवित हुआ।

“चंपा! मैं ईश्वर को नहीं मानता, मैं पाप को नहीं मानता, मैं दया को नहीं समझ सकता, मैं उस लोक में विश्वास नहीं करता, पर मुझे अपने हृदय के एक दुर्बल अंश पर श्रद्धा हो चली है। तुम न जाने कैसे एक बहकी हुई तारिका के समान मेरे शून्य में उदित हो गई हो। आलोक की एक कोमल रेखा इस निविड़तम में मुस्कराने लगी। पशु-बल और धन के उपासक के मन में किसी शान्त और एकान्त कामना की हँसी खिलखिलाने लगी; पर मैं न हँस सका।”

“चलोगी चंपा? पोतवाहिनी पर असंख्य धनराशि लादकर राजरानी-सी जन्मभूमि के अंक में? आज हमारा परिणय हो, कल ही हम लोग भारत के लिए प्रस्थान करें। महानाविक बुधगुप्त की आज्ञा सिन्धु की लहरें मानती हैं। वे स्वयं उस पोत-पुंज को दक्षिण पवन के समान भारत में पहुँचा देंगी। आह चंपा! चलो।”

चंपा ने उसके हाथ पकड़ लिए। किसी आकस्मिक झटके ने एक पलभर के लिए हमारे दोनों के अधरों को मिला दिया। सहसा चैतन्य होकर चंपा ने कहा— “बुधगुप्त! मेरे लिए सब मिट्टी है; सब जल तरल है; सब पवन शीतल है। कोई विशेष आकांक्षा हृदय में अग्नि के समान प्रज्ज्वलित नहीं। सब मिलाकर मेरे लिए एक शून्य है। प्रिय नाविक! तुम स्वदेश लौट जाओ, विभवों का सुख भोगने के लिए और मुझे छोड़ दो इन निरीह भोले-भाले प्राणियों के दु:ख की सहानुभूति और सेवा के लिए।”

"तब मैं अवश्य चला जाऊँगा, चंपा! यहाँ रहकर मैं अपने हृदय पर अधिकार रख सकूं, इसमें संदेह है। आह! उन लहरों में मेरा विनाश हो जाए।" महानाविक के उच्छ्वास में विकलता थी। फिर उसने पूछा—"तुम अकेली यहाँ क्या करोगी?"

"पहले विचार था कि कभी इस दीप-स्तम्भ पर से आलोक जलाकर अपने पिता की समाधि का इस जल से अन्वेषण करूंगी, किन्तु देखती हूँ, मुझे भी इसी में जलना होगा, जैसे आकाश-दीप।"

एक दिन स्वर्ण-रहस्य के प्रभात में चंपा ने अपने दीप-स्तम्भ पर से देखा—सामुद्रिक नावों की एक श्रेणी चंपा का उपकूल छोड़कर पश्चिम-उत्तर की ओर महा जल-व्याल के समान सन्तरण कर रही है। उसकी आँखों में आँसू बहने लगे।

यह कितनी ही शताब्दियों पहले की कथा है। चंपा आजीवन उस दीप-स्तम्भ में आलोक जलाती रही, किन्तु उसके बाद भी बहुत दिन, दीपनिवासी, उस माया-ममता और स्नेह-सेवा की देवी की समाधि-सदृश पूजा करते थे।

एक दिन काल के कठोर हाथों ने उसे भी अपनी चंचलता से गिरा दिया।

आँधी

चन्दा के तट पर बहुत-से छतनारे वृक्षों की छाया है, किन्तु मैं प्राय: मुचकुंद के नीचे ही जाकर टहलता, बैठता और कभी-कभी चाँदनी में ऊँघने भी लगता। वहीं मेरा विश्राम था। वहाँ मेरी एक सहचरी भी थी, किन्तु वह कुछ बोलती न थी। वह रहट्ठों की बनी हुई मूसदानी-सी एक झोपड़ी थी, जिसके नीचे पहले सथिया मुसहरिन का मोटा-सा काला लड़का पेट के बल पड़ा रहता था। दोनों कलाइयों पर सिर टेके हुए भगवान की अनन्त करुणा को प्रणाम करते हुए उसका चित्र आँखों के सामने आ जाता। मैं सथिया को कभी-कभी कुछ दे देता था, पर वह नहीं के बराबर। उसे तो मजूरी करके जीने में सुख था। अन्य मुसहरों की तरह अपराध करने में वह चतुर न थी। उसको मुसहरों की बस्ती से दूर रहने में सुविधा थी, वह मुचकुंद के फूल इकट्ठे करके बेचती, सेमर की रुई बीन लेती, लकड़ी के गट्ठे बटोरकर बेचती, पर उसके इन सब व्यापारों में कोई और सहायक न था। एक दिन वह मर ही तो गई। तब भी कलाई पर से सिर उठाकर, करवट बदलकर अँगड़ाई लेते हुए कलुआ ने केवल एक जम्भाई ली थी। मैंने सोचा—स्नेह, माया, ममता इन सबों की भी एक घरेलू पाठशाला है, जिसमें उत्पन्न होकर शिशु धीरे-धीरे इनके अभिनय की शिक्षा पाता है। उसकी अभिव्यक्ति के प्रकार और विशेषता से वह आकर्षक होता है सही, किन्तु, माया-ममता किस प्राणी के हृदय में न होगी! मुसहरों को पता लगा—वे कल्लू को ले गए। तब से इस स्थान को निर्जनता पर गरिमा का एक और रंग चढ़ गया।

मैं अब भी तो वहीं पहुँच जाता हूँ। बहुत घूम-फिरकर भी जैसे मुचकुंद की छाया की ओर खिंच जाता हूँ। आज के प्रभात में कुछ अधिक सरसता थी। मेरा हृदय हल्का-हल्का-सा हो रहा था। पवन में मादक सुगन्ध और शीतलता थी। ताल पर नाचती हुई लाल-लाल किरणें वृक्षों के अन्तराल से बड़ी सुहावनी लगती थीं। मैं परजाते के सौरभ में अपने सिर को धीरे-धीरे हिलाता हुआ कुछ गुनगुनाता चला जा रहा था। सहसा मुचकुन्द के नीचे मुझे धुआँ और कुछ मनुष्यों की चहल-पहल का अनुमान हुआ। मैं कुतूहल से उसी ओर बढ़ने लगा।

वहाँ कभी एक सराय भी थी, अब उसका ध्वंस बच रहा था। दो-एक कोठरियाँ थीं, किन्तु पुरानी प्रथा के अनुसार अब भी वहीं पर पथिक ठहरते।

मैंने देखा कि मुचकुन्द के आस-पास दूर तक एक विचित्र जमावड़ा है। अद्भुत शिविरों की पांति में यहाँ पर कानन-चरों, बिना घरवालों की बस्ती बसी हुई है।

सृष्टि को आरम्भ हुए कितना समय बीत गया, किन्तु इन अभागों को कोई पहाड़ की तलहटी या नदी की घाटी बसाने के लिए प्रस्तुत न हुई और न इन्हें कहीं घर बनाने की सुविधा ही मिली। वे आज भी अपने चलते-फिरते घरों को जानवरों पर लादे हुए घूमते ही रहते हैं! मैं सोचने लगा—ये सभ्य मानव-समाज के विद्रोही हैं, तो भी इनका एक समाज है। सभ्य संसार के नियमों को कभी न मानकर भी इन लोगों ने अपने लिए नियम बनाए हैं। किसी भी तरह, जिनके पास कुछ है, उनसे ले लेना और स्वतन्त्र होकर रहना। इनके साथ सदैव आज के संसार के लिए विचित्रतापूर्ण संग्रहालय रहता है। ये अच्छे घुड़सवार और भयानक व्यापारी हैं। अच्छा, ये लोग कठोर परिश्रमी और संसार यात्रा के उपयुक्त प्राणी हैं, फिर इन लोगों ने कहीं बसना, घर बनाना, क्यों नहीं पसन्द किया? —मैं मन-ही-मन सोचता हुआ धीरे-धीरे उनके पास होने लगा। कुतूहल ही तो था। आज तक इन लोगों के सम्बन्ध में कितनी ही बातें सुनता आया था। जब निर्जन चन्दा का ताल मेरे मनोविनोद की सामग्री हो सकता है, तब आज उसका बसा हुआ तट मुझे क्यों न आकर्षित करता? मैं धीरे-धीरे मुचकुंद के पास पहुँच गया। उसकी एक डाल से बँधा हुआ एक सुन्दर बछेड़ा हरी-हरी दूब खा रहा था और लहँगा-कुरता पहने, रूमाल सिर से बाँधे हुए एक लड़की उसकी पीठ सूखे घास के मट्ठे से मल रही थी। मैं रुककर देखने लगा। उसने पूछा—घोड़ा लोगे, बाबू?

नहीं—कहते हुए मैं आगे बढ़ा था कि एक तरुणी ने झोपड़े से सिर निकाल कर देखा। वह बाहर निकल आई। उसने कहा—आप पढ़ना जानते हैं?

हाँ, जानता तो हूँ।

हिन्दुओं की चिट्ठी आप पढ़ लेंगे?

मैं उसके सुन्दर मुख को कला की दृष्टि से देख रहा था। कला की दृष्टि; ठीक तो बौद्ध-कला, गान्धार-कला, द्रविड़ों की कला इत्यादि नाम से भारतीय मूर्ति-सौन्दर्य के अनेक विभाग जो हैं; जिससे गढ़न का अनुमान होता है। मेरे एकान्त जीवन को बिताने की सामग्री में इस तरह का जड़ सौन्दर्य-बोध भी एक स्थान रखता है। मेरा हृदय सजीव प्रेम से कभी आप्लुत नहीं हुआ था। मैं इस मूक सौन्दर्य से ही कभी- कभी अपना मनोविनोद कर लिया करता। चिट्ठी पढ़ने की बात पूछने पर भी मैं अपने मन में निश्चय कर रहा था कि वास्तविक गान्धार प्रतिमा है या ग्रीस और भारत का इस सौन्दर्य में समन्वय है।

वह झुंझलाकर बोली—क्या नहीं पढ़ सकोगे?

चश्मा नहीं है, मैंने सहसा कह दिया। यद्यपि मैं चश्मा नहीं लगाता, तो भी स्त्रियों से बोलने में न जाने क्यों मेरे मन में हिचक होती है। मैं उनसे डरता भी था, क्योंकि सुना था वे किसी वस्तु को बेचने के लिए प्राय: इस तरह तंग करती हैं कि उनसे दाम पूछनेवाले को लेकर ही छूटना पड़ता है। इसमें उनके पुरुष लोग भी सहायक हो जाते हैं, तब वह बेचारा

गाहक और भी झँझट में फँस जाता। मेरी सौन्दर्य की अनुभूति विलीन हो गई। मैं अपने दैनिक जीवन के अनुसार टहलने का उपक्रम करने लगा; किन्तु वह सामने अचल प्रतिमा की तरह खड़ी हो गई। मैंने कहा—क्या है?

चश्मा चाहिए? मैं ले आती हूँ।

ठहरो, ठहरो, मुझे चश्मा न चाहिए।

कहकर मैं सोच रहा था कि कहीं मुझे खरीदना न पड़े। उसने पूछा—तब तुम पढ़ सकोगे कैसे?

मैंने देखा कि बिना पढ़े मुझे छुट्टी न मिलेगी। मैंने कहा—ले आओ, देखूँ, सम्भव है कि पढ़ सकूँ।—उसने अपनी जेब से एक बुरी तरह मुड़ा हुआ पत्र निकाला। मैं उसे लेकर मन-ही-मन पढ़ने लगा।

लैला...,

तुमने जो मुझे पत्र लिखा था, उसे पढ़कर मैं हँसा भी और दुःख तो हुआ ही। हँसा इसलिए कि तुमने दूसरे से अपने मन का ऐसा खुला हुआ हाल क्यों कह दिया। तुम कितनी भोली हो! क्या तुमको ऐसा पत्र दूसरे से लिखवाते हुए हिचक न हुई। तुम्हारा घूमनेवाला परिवार ऐसी बातों को सहन करेगा? क्या इन प्रेम की बातों में तुम गम्भीरता का तनिक भी अनुभव नहीं करती हो? और दुखी इसलिए हुआ कि तुम मुझसे प्रेम करती हो। यह कितनी भयानक बात है। मेरे लिए भी और तुम्हारे लिए भी। तुमने मुझे निमन्त्रित किया है प्रेम के स्वतन्त्र साम्राज्य में घूमने के लिए, किन्तु तुम जानती हो, मुझे जीवन के ठोस झँझटों से छुट्टी नहीं। घर में मेरी स्त्री है, तीन-तीन बच्चे हैं, उन सबों के लिए मुझे खटना पड़ता है, काम करना पड़ता है। यदि वैसा न भी होता, तो भी क्या मैं तुम्हारे जीवन को अपने साथ घसीटने में समर्थ होता? तुम स्वतन्त्र वन-विहंगिनी और मैं एक हिन्दू गृहस्थ; अनेकों रुकावटें, बीसों बन्धन। यह सब असम्भव है। तुम भूल जाओ। जो स्वप्न तुम देख रही हो—उसमें केवल हम और तुम हैं। संसार का आभास नहीं। मैं एक दिन और जीर्ण सुख लेते हुए जीवन की विभिन्न अवस्थाओं का समन्वय करने का प्रयत्न कर रहा हूँ। न मालूम कब से मनुष्य इस भयानक सुख का अनुभव कर रहा है। मैं उन मनुष्यों में अपवाद नहीं हूँ, क्योंकि यह सुख भी तुम्हारे स्वतन्त्र सुख की सन्तति है! वह आरम्भ है, यह परिणाम है। फिर भी घर बसाना पड़ेगा। फिर वही समस्याएँ सामने आवेंगी। तब तुम्हारा यह स्वप्न भंग हो जाएगा। पृथ्वी ठोस और कंकरीली रह जाएगी। फूल हवा में बिखर जाएँगे। आकाश का विराट् मुख समस्त आलोक को पी जाएगा। अँधकार केवल अँधकार में झुँझलाहट—भरा पश्चात्ताप, जीवन को अपने डंकों से क्षत-विक्षत कर देगा। इसलिए लैला! भूल जाओ। तुम चारयारी बेचती हो। उससे सुना है, चोर पकड़े जाते हैं, किन्तु अपने मन का चोर पकड़ना कहीं अच्छा है। तुम्हारे भीतर जो तुमको चुरा रहा है, उसे निकाल बाहर करो। मैंने तुमसे कहा था कि बहुत—से पुराने सिक्के खरीदूँगा, तुम अबकी बार पश्चिम जाओ तो खोजकर ले आना। मैं उन्हें अच्छे दामों पर ले लूँगा। किन्तु तुमको खरीदना है अपने को बेचना नहीं, इसलिए मुझसे प्रेम करने की भूल तुम न करो।

हाँ, अब कभी इस तरह पत्र न भेजना, क्योंकि वह सब व्यर्थ है।

—रामेश्वर

मैं एक साँस में पत्र पढ़ गया, तब तक लैला मेरा मुँह देख रही थी। मेरा पढ़ना कुछ ऐसा ही हुआ, जैसे लोग अपने में बर्राते हैं। मैंने उसकी ओर देखते हुए वह कागज उसे लौटा दिया। उसने पूछा—इसका मतलब?

मतलब! वह फिर किसी समय बताऊँगा। अब मुझे जलपान करना है। मैं जाता हूँ। कहकर मैं मुड़ा ही था कि उसने पूछा—आपका घर, बाबू!—मैंने चंदा के किनारे अपने सफेद बँगले को दिखा दिया। लैला पत्र हाथ में लिए वहीं खड़ी रही। मैं अपने बँगले की ओर चला। मन में सोचता जा रहा था। रामेश्वर! वही तो रामेश्वरनाथ वर्मा! क्यूरियो मर्चेण्ट उसी की लिखावट है। वह तो मेरा परिचित है। मित्र मान लेने में मन को एक तरह की अड़चन है। इसलिए मैं प्राय: अपने कहे जानेवाले मित्रों को भी जब अपने मन में सम्बोधन करता हूँ, तो परिचित ही कहकर! सो भी जब इतना माने बिना काम नहीं चलता। मित्र मान लेने पर मनुष्य उससे शिव के समान आत्म- त्याग, बोधिसत्व के सदृश सर्वस्व समर्पण की जो आशा करता है और उसकी शक्ति की सीमा को प्राय: अतिरंजित देखता है। वैसी स्थिति में अपने को डालना मुझे पसन्द नहीं, क्योंकि जीवन का हिसाब-किताब उस काल्पनिक गणित के आधार पर रखने का मेरा अभ्यास नहीं, जिसके द्वारा मनुष्य सबके ऊपर अपना पावना ही निकाल लिया करता है।

अकेले जीवन के नियमित व्यय के लिए साधारण पूँजी का ब्याज मेरे लिए पर्याप्त है। मैं सुखी विचरता हूँ! हाँ, मैं जलपान करके कुरसी पर बैठा हुआ अपनी डाक देख रहा था। उसमें एक लिफाफा ठीक उन्हीं अक्षरों में लिखा हुआ, जिनमें लैला का पत्र था, निकला। मैं उत्सुकता से खोल कर पढ़ने लगा—

भाई श्रीनाथ,

तुम्हारा समाचार बहुत दिनों से नहीं मिला। तुम्हें यह जानकर प्रसन्नता होगी कि हम लोग दो सप्ताह के भीतर तुम्हारे अतिथि होंगे। चंदा की वायु हम लोगों को खींच रही है। मिन्ना तो तंग कर ही रहा है, उसकी माँ को और भी उत्सुकता है। उन सबों को यही सूझी है कि दिन भर ताल में डोंगी पर भोजन न करके हवा खाएँगे और पानी पिएँगे। तुम्हें कष्ट तो न होगा?

तुम्हारा—रामेश्वर

पत्र पढ़ लेने पर जैसे कुतूहल मेरे सामने नाचने लगा। रामेश्वर के परिवार का स्नेह, उनके मधुर झगड़े; मान-मनौवल-समझौता और अभाव में भी सन्तोष; कितना सुन्दर! मैं कल्पना करने लगा। रामेश्वर एक सफल कदम्ब है, जिसके ऊपर मालती की लता अपनी सैकड़ों उलझनों से, आनन्द की छाया और आलिंगन का स्नेह-सुरभि ढाल रही है।

रामेश्वर का ब्याह मैंने देखा था। रामेश्वर के हाथ के ऊपर मालती की पीली हथेली, जिसके ऊपर जलधारा पड़ रही थी। सचमुच यह सम्बन्ध कितना शीतल हुआ। उस समय मैं हँस रहा था—बालिका मालती और किशोर रामेश्वर! हिन्दू समाज का यह परिहास, यह

भीषण मनोविनोद! तो भी मैंने देखा, कहीं भूचाल नहीं हुआ—कहीं ज्वालामुखी नहीं फूटा। बहिया ने कोई गाँव बहाया नहीं। रामेश्वर और मालती अपने सुख की फसल हर साल काटते हैं।...मैंने जो सोचा—अभी—अभी जो विचार मेरे मन में आया, वह न लिखूँगा। मेरी क्षुद्रता जलन के रूप में प्रकट होगी, किन्तु मैं सच कहता हूँ, मुझे रामेश्वर से जलन नहीं तो भी मेरे उस विचार का मिथ्या अर्थ लोग लगा ही लेंगे। आजकल मनोविज्ञान का युग है न। प्रत्येक ने मनोवृत्तियों के लिए हृदय को कबूतर का दड़बा बना डाला है। इनके लिए सफेद, नीला, सुर्ख का श्रेणी-विभाग कर लिया गया है। उतनी प्रकार की मनोवृत्तियों को गिनकर वर्गीकरण कर लेने का साहस भी होने लगा है।

तो भी मैंने उस बात को सोच ही लिया। मेरे साधारण जीवन में एक लहर उठी। प्रसन्नता की स्निग्ध लहर! पारिवारिक सुखों से लिपटा हुआ, प्रणय-कलह देखूँगा; मेरे दायित्व-विहीन जीवन का वह मनोविनोद होगा। मैं रामेश्वर को पत्र लिखने लगा—

भाई रामेश्वर!

तुम्हारे पत्र ने मुझ पर प्रसन्नता की वर्षा की है। मेरे शून्य जीवन को आनन्द- कोलाहल से, कुछ ही दिनों के लिए सही, भर देने का तुम्हारा प्रयत्न, मेरे लिए सुख का कारण होगा, तुम अवश्य आओ और सबको साथ लेकर आओ!

तुम्हारा—श्रीनाथ

पुनश्चः

बम्बई से आते हुए सूरन अवश्य लेते आना। यहाँ वैसा नहीं मिलता। सूरन की तरकारी की गरमी में ही तुम लोग चंदा की ठंडी हवा झेल सकोगे और साथ-साथ अपनी चलती-फिरती दूकान का एक बक्स, जिस पर हम लोगों की बातचीत की परम्परा लगी रहे।

—श्रीनाथ

दोपहर का भोजन कर लेने के बाद मैं थोड़ी देर अवश्य लेटता हूँ। कोई पूछता है, तो कह देता हूँ कि यह निंद्रा नहीं भाई, तन्द्रा है, स्वास्थ्य को मैं उसे अपने आराम से चलने देता हूँ! चिकित्सकों से सलाह पूछकर उसमें छेड़—छाड़ करना मुझे ठीक नहीं जंचता। सच बात तो यह है कि मुझे वर्तमान युग की चिकित्सा में वैसा ही विश्वास है, जैसे पाश्चात्य पुरातत्त्वज्ञों की खोज पर। जैसे वे सांची अमरावती के स्तम्भ तथा शिल्प के चिह्नों में वस्त्र पहनी हुई मूर्तियों को देखकर, ग्रीक शिल्प कला का आभास पा जाते हैं और कल्पना कर बैठते हैं कि भारतीय बौद्ध कला ऐसी हो ही नहीं सकती, क्योंकि वे कपड़ा पहनना जानते ही न थे। फिर चाहे आप त्रिपिटक से ही प्रमाण क्यों न दें कि बिना अन्तर्वासक, चीवर इत्यादि के भारत का कोई भी भिक्षु नहीं रहता था; पर वे कब मानने वाले! वैसे ही चिकित्सक के पास सिर में दर्द होने की दवा खोजने गए कि वह पेट से उसका सम्बन्ध जोड़कर कोई रेचक औषधि दे ही देगा। बेचारा कभी न सोचेगा कि कोई गम्भीर विचार करते हुए, जीवन की किसी कठिनाई से टकराते रहने से भी सिर में पीड़ा हो सकती है। तो भी मैं हल्की-सी तन्द्रा केवल तबीयत बनाने के लिए ले ही लेता हूँ।

शरद्-काल की उजली धूप ताल के नीले जल पर फैल रही थी। आँखों में चकाचौंधी

लग रही थी। मैं कमरे में पड़ा अँगड़ाई ले रहा था। दुलारे ने आकर कहा— ईरानी—नहीं-नहीं बलूची आए हैं। मैंने पूछा—कैसे ईरानी और बलूची?

वही जो मूगा, फिरोजा, चारयारी बेचते हैं, सिर में रूमाल बाँधे हुए।

मैं उठ खड़ा हुआ, दालान में आकर देखता हूँ, तो एक बीस बरस के युवक के साथ लैला। गले में चमड़े का बैग, पीठ पर चोटी, छींट का रूमाल। एक निराला आकर्षक चित्र! लैला ने हँसकर पूछा—बाबू, चारयारी लोगे?

चारयारी?

हाँ बाबू! चारयारी! इसके रहने से इसके पास सोना, अशर्फी रहेगा। थैली कभी खाली न होगी और बाबू! इससे चोरी का माल बहुत जल्द पकड़ा जाता है।

साथ ही युवक ने कहा—ले लो बाबू! असली चारयारी; सोना का चारयारी एक बाबू के लिए लाया था। वह मिला नहीं।

मैं अब तक उन दोनों की सुरमीली आँखों को देख रहा था। सुरमे का घेरा गोरे-गोरे मुँह पर आँख की विस्तृत सत्ता का स्वतन्त्र साक्षी था। पतली लम्बी गर्दन पर खिलौने-सा मुँह टपाटप बोल रहा था! मैंने कहा—मुझे तो चारयारी नहीं चाहिए।

किन्तु वहाँ सुनता कौन है, दोनों सीढ़ी पर बैठ गए थे और लैला अपना बैग खोल रही थी। कई पोटलियाँ निकलीं, सहसा लैला के मुँह का रंग उड़ गया। वह घबराकर कुछ अपनी भाषा में कहने लगी युवक उठ खड़ा हुआ। मैं कुछ न समझ सका। वह चला गया। अब लैला ने मुस्कराते हुए, बैग में से वही पत्र निकाला। मैंने कहा—इसे तो मैं पढ़ चुका हूँ।

इसका मतलब!

वह तुम्हारी चारयारी खरीदने फिर आवेगा। यही इसमें लिखा है—मैंने कहा।

बस! इतना ही?

और भी कुछ है।

क्या बाबू?

और जो उसने लिखा है, वह मैं नहीं कह सकता—

क्यों बाबू? क्यों न कह सकोगे? बोलो।

लैला की वाणी में पुचकार, दुलार, झिड़की और आज्ञा थी।

यह सब बात मैं नहीं...

बीच में ही बात काटकर उसने कहा—नहीं क्यों? तुम जानते हो, नहीं बोलोगे?

उसने लिखा है, मैं तुमको प्यार करता हूँ।

लिखा है, बाबू! लैला की आँखों में स्वर्ग हँसने लगा! वह फुर्ती से पत्र मोड़कर रखती हुई हँसने लगी। मैंने अपने मन में कहा—अब यह पूछेगी, वह कब आवेगा? कहाँ मिलेगा? —किन्तु लैला ने यह सब कुछ नहीं पूछा। वह सीढ़ियों पर अर्द्ध - शयनावस्था में जैसे कोई सुन्दर सपना देखती हुई मुस्करा। रही थी। युवक दौड़ता हुआ आया; उसने अपनी भाषा में कुछ घबराकर कहा, पर लैला लेटे-ही-लेटे बोली। युवक भी बैठ गया। लैला ने मेरी ओर देखकर कहा—तो बाबू! वह आवेगा। मेरी चारयारी खरीदेगा। गुल से भी कह दो। मैंने समझ

लिया कि युवक का नाम गुल है। मैंने कहा— हाँ, वह तुम्हारी चारयारी खरीदने आवेंगे। गुल ने लैला की ओर प्रसन्न दृष्टि से देखा।

परन्तु मैं, जैसे भयभीत हो गया। अपने ऊपर सन्देह होने लगा। लैला सुन्दरी थी, पर उसके भीतर भयानक राक्षस की आकृति थी या देवमूर्ति! यह बिना जाने मैंने क्या कह दिया! इसका परिणाम भीषण भी हो सकता है। मैं सोचने लगा। रामेश्वर को मित्र तो मानता नहीं, किन्तु मुझे उससे शत्रुता करने का क्या अधिकार है?

चंदा के दक्षिणी तट पर ठीक मेरे बँगले के सामने एक पाठशाला थी। उसमें एक सिंहली सज्जन रहते थे। न जाने कहाँ-कहाँ से उनको चन्दा मिलता था। वे पास-पड़ोस के लड़कों को बुलाकर पढ़ाने के लिए बिठाते थे। दो मास्टरों को वेतन देते थे। उनका विश्वास था कि चंदा का तट किसी दिन तथागत के पवित्र चरण-चिह्न से अंकित हुआ था, वे आज भी उन्हें खोजते थे। बड़े शान्त प्रकृति के जीव थे। उनका श्यामल शरीर, कुंचित केश, तीक्ष्ण दृष्टि, सिंहली विशेषता से पूर्ण विनय, मधुर वाणी और कुछ-कुछ मोटे अक्षरों में चौबीसों घंटे बसने वाली हँसी आकर्षण से भरी थी। मैं कभी-कभी जब जीभ में खुजलाहट होती, वहाँ पहुँच जाता। आज की वह घटना मेरे गम्भीर विचार का विषय बनकर मुझे व्यस्त कर रही थी। मैं अपनी डोंगी पर बैठ गया। दिन अभी घंटे-डेढ़ घंटे बाकी था। उस पार खेकर डोंगी ले जाते बहुत देर नहीं हुई। मैं पाठशाला और ताल के बीच के उद्यान को देख रहा था। खजूर और नारियल के ऊँचे-ऊँचे वृक्षों की जिसमें निराली छटा थी। एक नया पीपल अपने चिकने पत्तों की हरियाली में झूम रहा था। उसके नीचे शिला पर प्रज्ञासारथि बैठे थे। नाव को अटकाकर मैं उनके समीप पहुँचा। अस्त होनेवाले सूर्य-बिम्ब की रंगीली किरणें उनके प्रशान्त मुखमंडल पर पड़ रही थीं। दो-ढाई हजार वर्ष पहले का चित्र दिखाई पड़ा, जब भारत की पवित्रता हजारों कोस से लोगों को वासना-दमन करना सीखने के लिए आमन्त्रित करती थी। आज भी आध्यात्मिक रहस्यों के उस देश में उस महती साधना का आशीर्वाद बचा है। अब भी बोध-वृक्ष पनपते हैं! जीवन की जटिल आवश्यकता को त्याग कर जब काषाय पहने सन्ध्या के सूर्य के रंग में रंग मिलाते हुए ध्यान-स्तिमित-लोचन मूर्तियाँ अभी देखने में आती हैं, तब जैसे मुझे अपनी सत्ता का विश्वास होता है और भारत की अपूर्वता का अनुभव होता है। अपनी सत्ता का इसलिए कि मैं भी त्याग का अभिनय करता हूँ न! और भारत के लिए तो मुझे पूर्ण विश्वास है कि इस विजय धर्म में है।

अधरों में कुंचित हँसी, आँखों में प्रकाश भरे प्रज्ञासारथि ने मुझे देखते हुए कहा— आज मेरी इच्छा थी कि आपसे भेंट हो।

मैंने हँसते हुए कहा—अच्छा हुआ कि मैं प्रत्यक्ष ही आ गया। नहीं तो ध्यान में बाधा पड़ती।

श्रीनाथजी! मेरे ध्यान में आपके आने की सम्भावना न थी। तो भी आज एक विषय पर आपकी सम्मति की आवश्यकता है।

मैं भी कुछ कहने के लिए ही यहाँ आया हूँ। पहले मैं कहूँ कि आप ही आरम्भ करेंगे?

सथिया के लड़के कल्लू के सम्बन्ध में तो आपको कुछ नहीं कहना है? मेरे बहुत

कहने पर मुसहरों ने उसे पढ़ने के लिए मेरी पाठशाला में रख दिया है और उसके पालन के भार से अपने को मुक्त कर लिया। अब वह सात बरस का हो गया है। अच्छी तरह खाता-पीता है। साफ-सुथरा रहता है। कुछ-कुछ पढ़ता भी है!—प्रज्ञासारथि ने कहा।

चलिए, अच्छा हुआ! एक रास्ते पर लग गया। फिर जैसा उसके भाग्य में हो। मेरा मन इन घरेलू बन्धनों में पड़ने के लिए विरक्त-सा है, फिर भी न जाने क्यों कल्लू का ध्यान आ ही जाता है—मैंने कहा।

तब तो अच्छी बात है, आप इस कृत्रिम विरक्ति से ऊब चले हैं, तो कुछ काम करने लगिए। मैं भी घर जाना चाहता हूँ, न हो तो पाठशाला ही चलाइए—कहते हुए प्रज्ञासारथि ने मेरी ओर गम्भीरता से देखा।

मेरे मन में हलचल हुई। मैं एक बकवादी मनुष्य! किसी विषय पर गम्भीरता का अभिनय करके थोड़ी देर तक सफल वाद-विवाद चला देना और फिर विश्वास करना; इतना ही तो मेरा अभ्यास था। काम करना, किसी दायित्व को सिर पर लेना असम्भव! मैं चुप रहा। वह मेरा मुँह देख रहे थे। मैं चतुरता से निकल जाना चाहता था। यदि मैं थोड़ी देर और उसी तरह सन्नाटा रखता, तो मुझे हाँ या नहीं कहना ही पड़ता। मैंने विवाह वाला चुटकला छेड़ ही तो दिया।

आप तो विरक्त भिक्षु हैं। अब घर जाने की आवश्यकता कैसे आ पड़ी।

भिक्षु! आश्चर्य से प्रज्ञासारथि ने कहा—मैं तो ब्रह्मचर्य में हूँ। विद्याभ्यास और धर्म का अनुशीलन कर रहा हूँ। यदि मैं चाहूँ तो प्रव्रज्या ले सकता हूँ, नहीं तो गृही बनाने में कोई धार्मिक आपत्ति नहीं। सिंहल में तो यही प्रथा प्रचलित है। मैं गार्हस्थ्य- जीवन से परिचित होना चाहता हूँ।

तो आप ब्याह करेंगे?

क्यों नहीं; वही करने तो जा रहा हूँ।

देखता हूँ, स्त्रियों पर आपको पूर्ण विश्वास है।

अविश्वास करने का कारण ही क्या है? इतिहास में, आख्यायिकारों में कुछ स्त्रियों और पुरुषों का दुष्ट चरित्र पढ़कर मुझे अपने और अपनी भावी सहधर्मिणी पर अविश्वास कर लेने का कोई अधिकार नहीं? प्रत्येक व्यक्ति को अपनी परीक्षा देनी चाहिए।

विवाहित जीवन सुखदायक होगा?—मैंने पूछा।

किसी कर्म को करने के पहले उसमें सुख की ही खोज करना क्या अत्यन्त आवश्यक है? सुख तो धर्माचरण से मिलता है अन्यथा संसार तो दुःखमय है ही! संसार के कर्मों को धार्मिकता के साथ करने में सुख की ही सम्भावना है।

किन्तु ब्याह-जैसे कर्म से तो सीधा-सीधा स्त्री से सम्बन्ध है। स्त्री! कितनी विचित्र पहेली है। इसे जानना सहज नहीं। बिना जाने ही उससे अपना सम्बन्ध जोड़ लेना, कितनी बड़ी भूल है, ब्रह्मचारीजी!—मैंने हंसकर कहा।

भाई, तुम बड़े चतुर हो। खूब सोच-समझकर, परखकर तब सम्बन्ध जोड़ना चाहते हो न; किन्तु मेरी समझ में सम्बन्ध हुए बिना परखने का दूसरा उपाय नहीं। प्रज्ञासारथि ने

गम्भीरता से कहा। मैं चुप होकर सोचने लगा। अभी-अभी जो मैंने एक काण्ड का बीजारोपण किया है, वह क्या लैला के स्वभाव से परिचित होकर! मैं अपनी मूर्खता पर मन-ही-मन तिलमिला उठा। मैंने कल्पना से देखा, लैला प्रतिहिंसाभरी एक भयानक राक्षसी है, यदि वह अपने जाति-स्वभाव के अनुसार रामेश्वर के साथ बदला लेने की प्रतिज्ञा कर बैठे, तब क्या होगा?

प्रज्ञासारथि ने फिर कहा—मेरा जाना तो निश्चित है ताम्रपर्णी की तरंगमालाएँ मुझे बुला रही हैं! मेरी एक प्रार्थना है। आप कभी-कभी आकर इसका निरीक्षण कर लिया कीजिए।

मुझे एक बहाना मिला, मैंने कहा—मैंने बैठे-बिठाए एक झँझट बुला लिया है। मैं देखता हूँ कि कुछ दिनों तक तो मुझे उसमें फँसना ही पड़ेगा।

प्रज्ञासारथि ने पूछा—वह क्या?

मैंने लैला का पत्र पढ़ने और उसके बाद का सब वृत्तान्त कह सुनाया। प्रज्ञासारथि चुप रहे, फिर उन्होंने कहा—आपने इस काम को खूब सोच-समझकर करने की आवश्यकता पर तो ध्यान न दिया होगा, क्योंकि इसका फल दूसरे को भोगने की सम्भावना है न!

मुझे प्रज्ञासारथि का यह व्यंग्य अच्छा न लगा। मैंने कहा—सम्भव है कि मुझे भी कुछ भोगना पड़े।

भाई, मैं तो देखता हूँ, संसार में बहुत-से ऐसे काम मनुष्य को करने पड़ते हैं, जिन्हें वह स्वप्न में भी नहीं सोचता। अकस्मात् वे प्रसंग सामने आकर गुर्राने लगते हैं, जिनसे भागकर जान बचाना ही उसका अभीष्ट होता है। मैं भी इसी तरह ब्याह करने के लिए सिंहल जा रहा हूँ।

अँधकार को भेदकर शरद् का चन्द्रमा नारियल और खजूर के वृक्षों पर दिखाई देने लगा था। चंदा का ताल लहरियों में प्रसन्न था। मैं क्षण भर के लिए प्रकृति की उस सुन्दर चित्रपटी को तन्मय होकर देखने लगा।

कलुआ ने जब प्रज्ञासारथि को भोजन करने की सूचना दी, मुझे स्मरण हुआ कि मुझे उस पार जाना है। मैंने दूसरे दिन आने को कहकर प्रज्ञासारथि से छुट्टी माँगी।

डोंगी पर बैठकर मैं धीरे-धीरे डांड़ चलाने लगा।

मैं अनमना-सा डाँड़ चलाता हुआ कभी चन्द्रमा को और कभी चंदा ताल को देखता। नाव सरल आन्दोलन में तिर रही थी। बार-बार सिंहली प्रज्ञासारथि की बात सोचता जाता था। मैंने घूमकर देखा, तो कुंज से घिरा हुआ पाठशाला का भवन चंदा के शुभ्रजल में प्रतिबिम्बित हो रहा था! चंदा का वह तट समुद्र-उपकूल का एक खंड- चित्र था। मन-ही-मन सोचने लगा—मैं करता ही क्या हूँ, यदि मैं पाठशाला का निरीक्षण करूँ, तो हानि क्या? मन भी लगेगा और समय भी कटेगा।—अब मैं बहुत दूर चला आया था। सामने मुचकुन्द वृक्ष की नील आकृति दिखलाई पड़ी मुझे लैला का फिर स्मरण आ गया। कितनी सरल, स्वतन्त्र और साहसिकता से भरी हुई रमणी है। सुरमीली आँखों में कितना नशा है और अपने मादक उपकरणों से भी रामेश्वर को अपनी ओर आकर्षित करने में वह असमर्थ है। रामेश्वर पर मुझे

क्रोध आया और लैला को फिर अपने विचारों से उलझते देखकर झुँझला उठा। अब किनारा समीप हो चला था। मैं मुचकुन्द की ओर से नाव घुमाने को था कि मुझे उस प्रशान्त जल में दो सिर तैरते हुए दिखाई पड़े। शरद्-काल की शीतल रजनी में उन तैरनेवालों पर मुझे आश्चर्य हुआ। मैंने डांड़ चलाना बन्द कर दिया। दोनों तैरनेवाले डोंगी के पास आ चले थे। मैंने चन्द्रिका के आलोक में पहचान लिया, वह लैला का सुन्दर मुख था। कुमुदिनी की तरह प्रफुल्ल चाँदनी में हंसता हुआ लैला का मुख! मैंने पुकारा—लैला! वह बोलने ही को थी कि उसके साथवाला मुख गुर्रा उठा। मैंने समझा कि उसका साथी गुल होगा; किन्तु लैला ने कहा—चुप, बाबूजी हैं। अब मैंने पहचाना—यह एक भयानक ताजी कुत्ता है, जो लैला के साथ तैर रहा था। लैला ने कहा—बाबूजी, आप कहाँ? मेरी डोंगी के एक ओर लैला का हाथ था और दूसरी ओर कुत्ते के दोनों अगले पंजे। मैंने कहा—यों ही घूमने आया था और तुम रात को तैरती हो? लैला।

दिन भर काम करने के बाद अब तो छुट्टी मिली है, बदन ठंडा कर रही हूँ—लैला ने कहा।

वह एक अद्‌भुत दृश्य था। इतने दिनों तक मैं जीवन के अकेले दिनों को काट चुका हूँ। अनेक अवसर विचित्र घटनाओं से पूर्ण और मनोरंजक मिले हैं; किन्तु ऐसा दृश्य तो मैंने कभी न देखा। मैंने पूछा—आज की रात तो बहुत ठंडी है, लैला!

उसने कहा—नहीं, बड़ी गर्म।

दोनों ने अपनी रुकावट हटा ली। डोंगी चलने को स्वतन्त्र थी। लैला और उसका साथी दोनों तैरने लगे। मैं फिर अपने बँगले की ओर डोंगी खेने लगा। किनारे पर पहुँचकर देखता हूँ कि दुलारे खड़ा है। मैंने पूछा—क्यों रे! तू कब से यहाँ है?

उसने कहा—आपको आने में देर हुई, इसलिए मैं आया हूँ। रसोई ठंडी हो रही है।

मैं डोंगी से उतर पड़ा और बँगले की ओर चला। मेरे मन में न जाने क्यों सन्देह हो रहा था कि दुलारे जान-बूझकर परखने आया था। लैला से बातचीत करते हुए उसने मुझे अवश्य देखा है। तो क्या वह मुझ पर कुछ सन्देह करता है? मेरा मन दुलारे को सन्देह करने का अवसर देकर जैसे कुछ प्रसन्न ही हुआ। बँगले पर पहुँच कर मैं भोजन करने बैठ गया। स्वभाव के अनुसार शरीर तो अपना नियमित सब करता ही रहा, किन्तु सो जाने पर भी वही सपना देखता रहा।

आज बहुत विलम्ब से सोकर उठा। आलस से कहीं घूमने-फिरने की इच्छा न थी। मैंने अपनी कोठरी में ही आसन जमाया। मेरी आँखों में वह रात्रि का दृश्य अभी घूम रहा था। मैंने लाख चेष्टा की, किन्तु लैला और वह सिंहली भिक्षु दोनों ही ने मेरे हृदय को अखाड़ा बना लिया था। मैंने विरक्त होकर विचार-परम्परा को तोड़ने के लिए बांसुरी बजाना आरम्भ किया। आसावरी के गम्भीर विलम्बित अलापों में फिर भी लैला की प्रेमपूर्ण आकृति जैसे बनने लगती। मैंने बांसुरी बजाना बन्द किया और ठीक विश्रामकाल में ही मैंने देखा कि प्रज्ञासारथि सामने खड़े हैं। मैंने उन्हें बैठाते हुए पूछा—आज आप इधर कैसे भूल पड़े?

यह प्रश्न मेरी विचार-विश्रृंखलता के कारण हुआ था, क्योंकि वे तो प्राय: मेरे यहाँ

आया ही करते थे। उन्होंने हँसकर कहा—मेरा आना भूलकर नहीं, किन्तु कारण से हुआ है। कहिए, आपने उस विषय में कुछ स्थिर किया?

मैंने अनजान बनकर पूछा—किस विषय में?

प्रज्ञासारथि ने कहा—वही पाठशाला की देख-रेख करने के लिए, जैसा मैंने उस दिन आपसे कहा था।

मैंने बात उड़ाने के ढंग से कहा—आप तो सोच-विचार कर काम करने में विश्वास ही नहीं रखते। आपका तो यही कहना है न कि मनुष्य प्राय: अनिच्छावश बहुत-से काम करने के लिए बाध्य होता है, तो फिर मुझे उस पर सोचने-विचारने की क्या आवश्यकता थी? जब वैसा अवसर आवेगा, तब देखा जाएगा।

कृपया मेरी बातों का अपने मनोनुकूल अर्थ न लगाइए। यह तो मैं मानता हूँ कि आप अपने ढंग के विचार करने के लिए स्वतन्त्र हैं; किन्तु उन्हें क्रियात्मक रूप देने के समय आपकी स्वतन्त्रता में मेरा विश्वास सन्दिग्ध हो जाता है। प्राय: देखा जाता है, हम लोग क्या करने जाकर क्या कर बैठते हैं, तो भी हम उसकी जिम्मेदारी से छूटते नहीं। मान लीजिए कि लैला के हृदय में एक दुराशा उत्पन्न करके आपने रामेश्वर के जीवन में अड़चन डाल दी है। सम्भव है, यह घटना साधारण न रहकर कोई भीषण काण्ड उपस्थित कर सकती है और आपका मित्र अपने अनिष्ट करनेवाले को न भी पहचान सके, तो क्या आप अपने ही मन के सामने इसके लिए अपराधी न ठहरेंगे?

प्रज्ञासारथि की ये बातें मुझे बेढंगी-सी जान पड़ीं, क्योंकि उस समय मुझे उनका आना और मुझे उपदेश देने का ढोंग रचना असह्य होने लगा। मेरी इच्छा होती थी कि वे किसी तरह भी यहाँ से चले जाते; तो भी मुझे उन्हें उत्तर देने के लिए इतना तो कहना ही पड़ा कि—आप कच्चे अदृष्टवादी हैं। आपके जैसा विचार रखने पर मैं तो इसे इस तरह सुलझाऊँगा कि अपराध करने में और दंड देने में मनुष्य एक-दूसरे का सहायक होता है। हम आज जो किसी को हानि पहुँचाते हैं, या कष्ट देते हैं, वह इतने ही के लिए नहीं कि उसने मेरी कोई बुराई की है। हो सकता है कि मैं उसके किसी अपराध का यह दण्ड समाज-व्यवस्था के किसी मौलिक नियम के अनुसार दे रहा हूँ। फिर चाहे मेरा यह दण्ड देना भी अपराध बन जाए और उसका फल भी मुझे भोगना पड़े। मेरे इस कहने पर प्रज्ञासारथि हँस दिया और कहा—श्रीनाथजी, मैं आपकी दण्ड-व्यवस्था ही तो करने आया हूँ। आप अपने बेकार जीवन को मेरी बेगार में लगा दीजिए। मैंने पिण्ड छुड़ाने के लिए कहा—अच्छा, तीन दिन सोचने का अवसर दीजिए।

प्रज्ञासारथि चले गए और मैं चुपचाप सोचने लगा। मेरे स्वतन्त्र जीवन में माँ के मर जाने के बाद यह दूसरी उलझन थी। निश्चित जीवन की कल्पना का अनुभव मैंने इतने दिनों तक कर लिया था। मैंने देखा कि मेरे निराश जीवन में उल्लास का छींटा भी नहीं। यह ज्ञान मेरे हृदय को और भी स्पर्श करने लगा। मैं जितना ही विचारता था, उतना ही मुझे निश्चिंतता और निराशा का अभेद दिखलाई पड़ता था। मेरे आलसी जीवन में सक्रियता की प्रतिध्वनि होने लगी। तो भी काम न करने का स्वभाव मेरे विचारों के बीच में जैसे व्यंग्य से मुस्करा देता था।

तीन दिनों तक मैंने सोचा और विचार किया। अन्त में प्रज्ञासारथि की विजय हुई, क्योंकि मेरी दृष्टि में प्रज्ञासारथि का काम नाम के लिए तो अवश्य था, किन्तु करने में कुछ भी नहीं के बराबर।

मैंने अपना हृदय दृढ़ किया और प्रज्ञासारथि से जाकर कह दिया कि—मैं पाठशाला का निरीक्षण करूँगा, किन्तु मेरे मित्र आनेवाले हैं और जब तक यहाँ रहेंगे, तब तक तो मैं अपना बँगला न छोड़ूंगा, क्योंकि यहाँ उन लोगों के आने से आपको असुविधा होगी। फिर जब वे लोग चले जाएँगे, तब मैं यहीं आकर रहने लगूँगा।

मेरे सिंहली मित्र ने हंसकर कहा—अभी तो एक महीने यहाँ मैं अवश्य रहूँगा। यदि आप अभी से यहाँ चले आवें तो, बड़ा अच्छा हो, क्योंकि मेरे रहते यहाँ का सब प्रबन्ध आपकी समझ में आ जायगा। रह गई मेरी असुविधा की बात, सो तो केवल आपकी कल्पना है। मैं आपके मित्रों को यहाँ देखकर प्रसन्न ही होऊँगा। जगह की कमी भी नहीं।

मैं ‘अच्छा’ कहकर उनसे छुट्टी लेने के लिए उठ खड़ा हुआ; किन्तु प्रज्ञासारथि ने मुझे फिर से बैठाते हुए कहा—देखिए श्रीनाथजी, यह पाठशाला का भवन पूर्णत: आपके अधिकार में रहेगा। भिक्षुओं के रहने के लिए तो संघाराम का भाग अलग है ही और उसमें जो कमरे अभी अधूरे हैं, उन्हें शीघ्र ही पूरा कराकर तब मैं जाऊँगा और अपने संघ से मैं इसकी पक्की लिखा-पढ़ी कर रहा हूँ कि आप पाठशाला के आजीवन अवैतनिक प्रधानाध्यक्ष रहेंगे और उसमें किसी को हस्तक्षेप करने का अधिकार न होगा।

मैं उस युवक बौद्ध मिशनरी की युक्तिपूर्ण व्यावहारिकता देखकर मन-ही-मन चकित हो रहा था। एक क्षण भर के लिए उस सिंहली की व्यवहार-कुशल बुद्धि से मैं भीतर-ही-भीतर ऊब उठा। मेरी इच्छा हुई कि मैं स्पष्ट अस्वीकार कर दूँ; किन्तु न जाने क्यों मैं वैसा न कर सका। मैंने कहा—तो आपको मुझमें इतना विश्वास है कि मैं आजीवन आपकी पाठशाला चलाता रहूँगा!

प्रज्ञासारथि ने कहा—शक्ति की परीक्षा दूसरों ही पर होती है; यदि मुझे आपकी शक्ति का अनुभव हो, तो कुछ आश्चर्य की बात नहीं। और आप तो जानते ही हैं कि धार्मिक मनुष्य विश्वासी होता है। सूक्ष्म रूप से जो कल्याण-ज्योति मानवता में अन्तर्निहित है, मैं तो उसमें अधिक-से-अधिक श्रद्धा करता हूँ। विपथगामी होने पर वही सन्त हो करके मनुष्य का अनुशासन करती है, यदि उसकी पशुता ही प्रबल न हो गई हो, तो।

मैंने प्रज्ञासारथि की आँखों से आँख मिलाते हुए देखा, उसमें तीव्र संयम की ज्योति चमक रही थी, मैं प्रतिवाद न कर सका और यह कहते हुए खड़ा हुआ कि—अच्छा, जैसा आप कहते हैं, वैसा ही होगा।

मैं धीरे-धीरे बँगले की ओर लौट रहा था। रास्ते में अचानक देखता हूँ कि दुलारे दौड़ा हुआ चला आ रहा है। मैंने पूछा—क्या है रे?

उसने कहा—बाबूजी, घोड़ागाड़ी पर बहुत आदमी आए हैं। वे लोग आपको पूछ रहे हैं।

मैंने समझ लिया कि रामेश्वर आ गया। दुलारे से कहा कि—तू दौड़ जा, मैं यहीं खड़ा

हूँ। उन लोगों को सामान-सहित यहीं लिवा ला!

दुलारे तो बँगले की ओर भागा, मैं उसी जगह अविचल भाव से खड़ा रहा। मन में विचारों की आँधी उठने लगी, रामेश्वर तो आ गया और वे ईरानी भी यहीं हैं। ओह, मैंने कैसी मूर्खता की! तो मेरे मन को जैसे ढाढ़स हुआ कि रामेश्वर मेरे बँगले में नहीं ठहरता है। इस बौद्ध पाठशाला तक लैला क्यों आने लगी? जैसे लैला को वहाँ आने में कोई दैवी बाधा हो। फिर मेरा सिर चकराने लगा। मैंने कल्पना की आँखों से देखा कि लैला अबाधगति से चलनेवाली एक निर्झरिणी है। पश्चिम की सर्राटे से भरी हुई वायुतरंग-माला है। उसको रोकने की किसमें सामर्थ्य है; और फिर अकेले रामेश्वर ही तो नहीं, उसकी स्त्री भी उसके साथ है। अपनी मूर्खतापूर्ण करनी से मेरा ही दम घुटने लगा। मैं खड़ा-खड़ा झील की ओर देख रहा था। उसमें छोटी-छोटी लहरियाँ उठ रही थीं, जिनमें सूर्य की किरणें प्रतिबिम्बित होकर आँखों को चौंधिया देती थीं। मैंने आँखें बन्द कर लीं। अब मैं कुछ नहीं सोचता था। गाड़ी की घरघराहट ने मुझे सजग किया। मैंने देखा कि रामेश्वर गाड़ी का पल्ला खोलकर वहीं सड़क में उतर रहा है।

मैं उससे गले मिल शीघ्रता से कहने लगा—गाड़ी पर बैठ जाओ। मैं भी चलता हूँ। यहीं पास ही चलना है।—उसने गाड़ीवान से चलने के लिए कहा। हम दोनों साथ-साथ पैदल ही चले। पाठशाला के समीप प्रज्ञासारथि अपनी रहस्यपूर्ण मुस्कराहट के साथ अगवानी करने के लिए खड़े थे।

दो दिनों में हम लोग अच्छी तरह रहने लगे। घर का कोना-कोना आवश्यक चीजों से भर गया। प्रज्ञासारथि इसमें बराबर हम लोगों के साथी हो रहे थे और सबसे अधिक आश्चर्य मुझे मालती को देखकर हुआ। वह मानो इस जीवन की सम्पूर्ण गृहस्थी यहाँ सजाकर रहेगी। मालती एक स्वस्थ युवती थी; किन्तु दूर से देखने में अपनी छोटी-सी आकृति के कारण वह बालिका-सी लगती थी। उसकी तीनों सन्तानें बड़ी सुन्दर थीं। मिन्ना छह बरस का, रज्जन चार का और कमलो दो की थी। कमलो सचमुच एक गुड़िया थी। कल्लू का उससे इतना घना परिचय हो गया कि दोनों को एक-दूसरे के बिना चैन नहीं। मैं सोचता था कि प्राणी क्या स्नेहमय ही उत्पन्न होता है। अज्ञात प्रदेशों से आकर वह संसार में जन्म लेता है। फिर अपने लिए स्नेहमय सम्बन्ध बना लेता है; किन्तु मैं सदैव इन बुरी बातों से भागता ही रहा। इसे मैं अपना सौभाग्य कहूँ? या दुर्भाग्य?

इन्हीं कई दिनों में रामेश्वर के प्रति मेरे हृदय में इतना स्नेह उमड़ा कि मैं उसे एक क्षण छोड़ने के लिए प्रस्तुत न था। अब हम लोग साथ बैठकर भोजन करते, साथ ही टहलने निकलते। बातों का तो अन्त ही न था। कल्लू तीनों बच्चों को बहलाए रहता। दुलारे खाने-पीने का प्रबन्ध कर लेता। रामेश्वर से मेरी बातें होतीं और मालती चुपचाप सुना करती। कभी-कभी बीच में कोई अच्छी-सी मीठी बात बोल भी देती।

और प्रज्ञासारथि को तो मानो एक पाठशाला ही मिल गई थी। वे गार्हस्थ्य जीवन का चुपचाप अच्छा-सा अध्ययन कर रहे थे।

एक दिन मैं बाजार से अकेला लौट रहा था। बँगले के पास मैं पहुँचा ही था, कि लैला

मुझे दिखाई पड़ी। वह अपने घोड़े पर सवार थी। मैं क्षण-भर तक विचारता रहा कि क्या करूँ। तब तक घोड़े से उतरकर वह मेरे पास चली आई। मैं खड़ा हो गया था। उसने पूछा—बाबूजी, आप कहीं चले गए थे?

हाँ!

अब इस बँगले में आप नहीं रहते?

मैं तुमसे एक बात कहना चाहता हूँ, लैला।—मैंने घबराकर उससे कहा।

क्या बाबूजी?

वह चिट्ठी।

है तो मेरे ही पास, क्यों?

मैंने उसमें कुछ झूठ कहा था।

झूठ!—लैला की आँखों से बिजली निकलने लगी थी।

हाँ लैला! उसमें रामेश्वर ने लिखा था कि मैं तुमको नहीं चाहता, मुझे बाल-बच्चे हैं।

ऐं तुम झूठे! दगाबाज!—कहती हुई लैला अपनी छुरी की ओर देखती हुई दाँत पीसने लगी।

मैंने कहा—लैला, तुम मेरा कसूर...।

तुम मेरे दिल से दिल्लगी करते थे! कितने रञ्ज की बात है! वह कुछ न कह सकी। वहीं बैठकर रोने लगी। मैंने देखा कि यह बड़ी आफत है। कोई मुझे इस तरह यहाँ देखेगा तो क्या कहेगा। मैं तुरन्त वहाँ से चल देना चाहता था, किन्तु लैला ने आँसू-भरी आँखों से मेरी ओर देखते हुए कहा—तुमने मेरे लिए दुनिया में एक बड़ी अच्छी बात सुनाई थी। वह मेरी हँसी थी! इसे जानकर आज मुझे इतना गुस्सा आता है कि मैं तुमको मार डालूँ या आप ही मर जाऊँ!—लैला दाँत पीस रही थी। मैं काँप उठा—अपने प्राणों के भय से नहीं किन्तु लैला के साथ अदृष्ट के खिलवाड़ पर और अपनी मूर्खता पर। मैंने प्रार्थना के ढंग से कहा—लैला, मैंने तुम्हारे मन को ठेस लगा दी है, इसका मुझे बड़ा दु:ख है। अब तुम उसको भूल जाओ।

तुम भूल सकते हो, मैं नहीं! मैं खून करूँगी!—उसकी आँखों से ज्वाला निकल रही थी।

किसका, लैला! मेरा?

ओह नहीं, तुम्हारा नहीं, तुमने एक दिन मुझे सबसे बड़ा आराम दिया है। हो, वह झूठा। तुमने अच्छा नहीं किया था, तो भी मैं तुमको अपना दोस्त समझती हूँ।

तब किसका खून करोगी?

उसने गहरी साँस लेकर कहा—अपना या किसी...फिर चुप हो गई। मैंने कहा—तुम ऐसा न करोगी, लैला! मेरा और कुछ कहने का साहस नहीं होता था। उसी ने फिर पूछा—वह जो तेज हवा चलती है, जिसमें बिजली चमकती है, बरफ गिरती है, जो बड़े-बड़े पेड़ों को तोड़ डालती है।...हम लोगों के घरों को उड़ा ले जाती है।

आँधी!—मैंने बीच ही में कहा।

हाँ, वही मेरे यहाँ चल रही है!—कहकर लैला ने अपनी छाती पर हाथ रख दिया।

लैला!—मैंने अधीर होकर कहा।

मैं उसको एक बार देखना चाहती हूँ।—उसने भी व्याकुलता से मेरी ओर देखते हुए कहा।

मैं उसे दिखा दूँगा; पर तुम उसकी कोई बुराई तो न करोगी?—मैंने कहा।

हुश!—कहकर लैला ने अपनी काली आँखें उठाकर मेरी ओर देखा।

मैंने कहा—अच्छा लैला! मैं दिखा दूँगा।

कल मुझसे यहीं मिलना!—कहती हुई वह अपने घोड़े पर सवार हो गई। उदास लैला के बोझ से वह घोड़ा भी धीरे-धीरे चलने लगा और लैला झुकी हुई-सी उस पर मानो किसी तरह बैठी थी।

मैं वहीं देर तक खड़ा रहा और फिर धीरे-धीरे अनिच्छापूर्वक पाठशाला की ओर लौटा। प्रज्ञासारथि पीपल के नीचे शिलाखंड पर बैठे थे। मिन्ना उनके पास खड़ा उनका मुँह देख रहा था। प्रज्ञासारथि की रहस्यपूर्ण हँसी आज अधिक उदार थी। मैंने देखा कि वह उदासीन विदेशी अपनी समस्या हल कर चुका है। बच्चों की चहल-पहल ने उसके जीवन में वांछित परिवर्तन ला दिया है। और मैं?

मैं कह चुका था, इसलिए दूसरे दिन लैला से भेंट करने पहुँचा। देखता हूँ कि वह पहले ही से वहाँ बैठी है। निराशा से उदास उसका मुँह आज पीला हो रहा था। उसने हँसने की चेष्टा नहीं की और न मैंने ही। उसने पूछा—तो कब, कहाँ चलना होगा? मैं तो सूरत में उससे मिली थी! वहीं उसने मेरी चिट्ठी का जवाब दिया था। अब कहाँ चलना होगा?

मैं भौंचक-सा हो गया। लैला को विश्वास था कि सूरत, बम्बई, काश्मीर वह चाहे कहीं हो, मैं उसे लिवाकर चलूँगा ही और रामेश्वर से भेंट करा दूँगा। सम्भवत: उसने परिहास का यह दण्ड निर्धारित कर लिया था। मैं सोचने लगा—क्या कहूँ।

लैला ने फिर कहा—मैं उसकी बुराई न करूँगी, तुम डरो मत।

मैंने कहा—वह यहीं आ गया है। उसके बाल-बच्चे सब साथ हैं! लैला, तुम चलोगी?

वह एक बार सिर से पैर तक काँप उठी! और मैं भी घबरा गया। मेरे मन में नई आशंका हुई। आज मैं क्या दूसरी भूल करने जा रहा हूँ? उसने संभलकर कहा—हाँ चलूँगी, बाबू! मैंने गहरी दृष्टि से उसके मुँह की ओर देखा, तो अंधड़ नहीं किन्तु एक शीतल मलय का व्याकुल झोंका उसकी घुंघराली लटों के साथ खेल रहा था। मैंने कहा—अच्छा, मेरे पीछे-पीछे चली आओ!

मैं चला और वह मेरे पीछे थी। जब पाठशाला के पास पहुँचा, तो मुझे हारमोनियम का स्वर और मधुर आलाप सुनाई पड़ा। मैं ठिठककर सुनने लगा—रमणी-कण्ठ की मधुर ध्वनि! मैंने देखा कि लैला की आँखें उस संगीत के नशे में मतवाली हो चली हैं। उधर देखता हूँ तो कमलो को गोद में लिये प्रज्ञासारथि भी झूम रहे हैं। अपने कमरे में मालती छोटे-से सफारी बाजे पर पीलू गा रही है और अच्छी तरह गा रही है। रामेश्वर लेटा हुआ उसके मुँह की ओर देख रहा है। पूर्ण तृप्ति! प्रसन्नता की माधुरी दोनों के मुँह पर खेल रही है! पास ही रंजन और मिन्ना बैठे हुए अपने माता और पिता को देख रहे हैं! हम लोगों के आने की बात कौन

जानता है। मैंने एक क्षण के लिए अपने को कोसा; इतने सुन्दर संसार में कलह की ज्वाला जलाकर मैं तमाशा देखने चला था। हाय रे—मेरा कुतूहल! और लैला स्तब्ध अपनी बड़ी-बड़ी आँखों से एकटक न जाने क्या देख रही थी। मैं देखता था कि कमलो प्रज्ञासारथि की गोद से धीरे-से खिसक पड़ी और बिल्ली की तरह पैर दबाती हुई अपनी मां की पीठ पर हँसती हुई गिर पड़ी, और बोली—मां! और गाना रुक गया। कमलो के साथ मिन्ना और रंजन भी हँस पड़े। रामेश्वर ने कहा—कमलो, तू बली पाजी है ले! बा—पाजी—लाल कहकर कमलो ने अपनी नन्हीं-सी उंगली उठाकर हम लोगों की ओर संकेत किया। रामेश्वर तो उठकर बैठ गए। मालती ने मुझे देखते ही सिर का कपड़ा तनिक आगे की ओर खींच लिया और लैला ने रामेश्वर को देखकर सलाम किया। दोनों की आँखें मिलीं। रामेश्वर के मुँह पर पल भर के लिए एक घबराहट दिखाई पड़ी। फिर उसने सँभलकर पूछा—अरे लैला! तुम यहाँ कहाँ?

चारयारी न लोगे, बाबू?—कहती हुई लैला निर्भीक भाव से मालती के पास जाकर बैठ गई।

मालती लैला पर एक सलज्ज मुस्कान छोड़ती हुई, उठ खड़ी हुई। लैला उसका मुँह देख रही थी, किन्तु उस ओर ध्यान न देकर मालती ने मुझसे कहा—भाई जी, आपने जलपान नहीं किया। आज तो आप ही के लिए मैंने सूरन के लड्डू बनाए हैं।

तो देती क्यों नहीं पगली, मैं सवेरे ही से भूखा भटक रहा हूँ—मैंने कहा। मालती जलपान ले आने गई। रामेश्वर ने कहा—चारयारी ले आई हो? लैला ने हाँ कहते हुए अपना बैग खोला। फिर रुककर उसने अपने गले से एक ताबीज निकाला। रेशम से लिपटा हुआ चौकोर ताबीज की सीवन खोलकर उसने वह चिट्ठी निकाली। मैं स्थिर भाव से देख रहा था। लैला ने कहा—पहले बाबूजी, इस चिट्ठी को पढ़ दीजिए। रामेश्वर ने कम्पित हाथों से उसको खोला, वह उसी का लिखा हुआ पत्र था। उसने घबराकर लैला की ओर देखा। लैला ने शान्त स्वरों में कहा—पढ़िए बाबू! आप ही के मुँह से सुनना चाहती हूँ।

रामेश्वर ने दृढ़ता से पढ़ना आरम्भ किया। जैसे उसने अपने हृदय का समस्त बल आने वाली घटनाओं का सामना करने के लिए एकत्र कर लिया हो; क्योंकि मालती जलपान लिए आ ही रही थी। रामेश्वर ने पूरा पत्र पढ़ लिया। केवल नीचे अपना नाम नहीं पढ़ा। मालती खड़ी सुनती रही और मैं सूरन के लड्डू खाता रहा। बीच-बीच में मालती का मुँह देख लिया करता था! उसने बड़ी गम्भीरता से पूछा—भाईजी, लड्डू कैसे हैं? यह तो आपने बताया नहीं, धीरे-से खा गए।

जो वस्तु अच्छी होती है वही गले में धीरे-से उतार ली जाती है। नहीं तो कड़वी वस्तु के लिए थू-थू करना पड़ता।—मैं कह ही रहा था कि लैला ने रामेश्वर से कहा है—ठीक तो! मैंने सुन लिया। अब आप उसको फाड़ डालिए। तब आपको चारयारी दिखाऊँ।

रामेश्वर सचमुच पत्र फाड़ने लगा। चिन्दी-चिन्दी उस कागज के टुकड़े की उड़ गई और लैला ने एक छिपी हुई गहरी साँस ली, किन्तु मेरे कानों ने उसे सुन ही लिया। वह तो एक भयानक आँधी से कम न थी। लैला ने सचमुच एक सोने की चारयारी निकाली। उसके साथ

एक सुन्दर मूंगे की माला। रामेश्वर ने चारयारी लेकर देखा। उसने मालती से पचास के नोट देने के लिए कहा। मालती अपने पति के व्यवसाय को जानती थी, उसने तुरन्त नोट दे दिए। रामेश्वर ने जब नोट लैला की ओर बढ़ाए, तभी कमलो सामने आकर खड़ी हो गई—बा... लाल...रामेश्वर ने पूछा, क्या है रे कमलो?

पुतली-सी सुन्दर बालिका ने रामेश्वर के गालों को अपने छोटे-से हाथों से पकड़कर कहा—लाल-लाल...

लैला ने नोट ले लिए थे। पूछा—बाबूजी! मूंगे की माला न लीजिएगा?

नहीं।

लैला ने माला उठाकर कमलो को पहना दी। रामेश्वर नहीं-नहीं कर रहा था, किन्तु उसने सुना नहीं! कमलो ने अपनी मां को देखकर कहा—मां...लाल...वह हँस पड़ी और कुछ नोट रामेश्वर को देते हुए बोली—तो ले लो न, इसका भी दाम दे दो।

लैला ने तीव्र दृष्टि से मालती को देखा; मैं तो सहम गया था। मालती हँस पड़ी। उसने कहा—क्या दाम न लोगी?

लैला कमलो का मुँह चूमती हुई उठ खड़ी हुई। मालती अवाक्, रामेश्वर स्तब्ध, किन्तु मैं प्रकृतिस्थ था।

लैला चली गई।

मैं विचारता रहा, सोचता रहा। कोई अन्त न था—ओर-छोर का पता नहीं। लैला, प्रज्ञासारथि—रामेश्वर और मालती सभी मेरे सामने बिजली के पुतलों से चक्कर काट रहे थे। सन्ध्या हो चली थी, किन्तु मैं पीपल के नीचे से न उठ सका। प्रज्ञासारथि अपना ध्यान समाप्त करके उठे। उन्होंने मुझे पुकारा—श्रीनाथजी! मैंने हँसने की चेष्टा करते हुए कहा—कहिए!

आज तो आप भी समाधिस्थ रहे।

तब भी इसी पृथ्वी पर था। जहाँ लालसा क्रन्दन करती है, दुःखानुभूति हँसती है और नियति अपने मिट्टी के पुतलों के साथ अपना क्रूर मनोविनोद करती है; किन्तु आप तो बहुत ऊँचे किसी स्वर्गिक भावना में...

ठहरिए श्रीनाथजी! सुख और दुःख, आकाश और पृथ्वी, स्वर्ग और नरक के बीच में है वह सत्य, जिसे मनुष्य प्राप्त कर सकता है।

मुझे क्षमा कीजिए! अन्तरिक्ष में उड़ने की मुझमें शक्ति नहीं है। मैंने परिहासपूर्वक कहा।

साधारण मन की स्थिति को छोड़कर जब मनुष्य कुछ दूसरी बात सोचने के लिए प्रयास करता है, तब क्या वह उड़ने का प्रयास नहीं? हम लोग कहने के लिए द्विपद हैं, किन्तु देखिए तो जीवन में हम लोग कितनी बार उचकते हैं, उड़ान भरते हैं। वही तो उन्नति की चेष्टा, जीवन के लिए संग्राम और भी क्या-क्या नाम से प्रशंसित नहीं होती? तो मैं भी इसकी निन्दा नहीं करता; उठने की चेष्टा करनी चाहिए किन्तु...

आप यही न कहेंगे कि समझ-बूझकर एक बार उचकना चाहिए; किन्तु उस एक बार को—उस अचूक अवसर को जानना सहज नहीं। इसीलिए तो मनुष्यों को, जो सबसे

बुद्धिमान प्राणी है, बार-बार धोखा खाना पड़ता है। उन्नति को उसने विभिन्न रूपों में अपनी आवश्यकताओं के साथ इतना मिलाया है कि उसे सिद्धान्त बना लेना पड़ा है कि उन्नति का द्वन्द्व पतन ही है।

संयम का वज्र-गम्भीर नाद प्रकृति से नहीं सुनते हो? शारीरिक क्रम तो गौण है, मुख्य संयम तो मानसिक है। श्रीनाथजी, आज लैला का वह मन का संयम क्या किसी महानदी की प्रखर धारा के अचल बाँध से कम था? मैं तो देखकर अवाक् था। आपकी उस समय विचित्र परिस्थिति रही। फिर भी कैसे सब निर्विघ्न समाप्त हो गया। उसे सोचकर तो मैं अब भी चकित हो जाता हूँ; क्या वह इस भयानक प्रतिरोध के धक्के को सँभाल लेगी?

लैला के वक्षःस्थल में कितना भीषण अन्धड़ चल रहा होगा, इसका अनुभव हम लोग नहीं कर सकते! मैं भी अब इससे भयभीत हो रहा हूँ।

प्रज्ञासारथि चुप रहकर धीरे-धीरे कहने लगे—मैं तो कल जाऊँगा। यदि तुम्हारी सम्मति हो, तो रामेश्वर को भी साथ चलने के लिए कहूँ। बम्बई तक हम लोगों का साथ रहेगा और मालती इस भयावनी छाया से शीघ्र ही दूर हट जाएगी! फिर तो सब कुशल ही है।...

मेरे त्रस्त मन को शरण मिली। मैंने कहा—अच्छी बात है। प्रज्ञासारथि उठ गए। मैं वहीं बैठा रहा और भी बैठा रहता, यदि मिन्ना और रंजन की किलकारी और रामेश्वर की डाँट-डपट—मालती की कलछी की खट-खट का कोलाहल जोर न पकड़ लेता और कल्लू सामने आकर न खड़ा हो जाता।

प्रज्ञासारथि, रामेश्वर और मालती को गए एक सप्ताह से ऊपर हो गया। अभी तक उस वास्तविक संसार का कोलाहल सुदूर से आती हुई मधुर संगीत की प्रतिध्वनि के समान मेरे कानों में गूँज रहा था। मैं अभी तक उस मादकता को उतार न सका था। जीवन में पहले की-सी निश्चिन्तता का विराग नहीं, न तो वह बेपरवाही रही। मैं सोचने लगा कि अब मैं क्या करूँ?

कुछ करने की इच्छा क्यों? मन के कोने से चुटकी लेते कौन पूछ बैठा?

किए बिना तो रहा नहीं जाता।

करो भी, पाठशाला से क्या मन ऊब चला?

उतने से सन्तोष नहीं होता।

और क्या चाहिए?

यही तो नहीं समझ सका, नहीं तो यह प्रश्न ही क्यों करता कि अब मैं क्या करूँ—मैंने झुँझलाकर कहा। मेरी बातों का उत्तर लेने-देने वाला मुस्कराकर हट गया। मैं चिन्ता के अँधकार में डूब गया! वह मेरी ही गहराई थी, जिसकी मुझे थाह न लगी। मैं प्रकृतिस्थ हुआ कब, जब एक उदास और ज्वालामयी तीव्र दृष्टि मेरी आँखों में घुसने लगी। अपने उस अँधकार में मैंने एक ज्योति देखी।

मैं स्वीकार करूँगा कि वह लैला थी, इस पर हँसने की इच्छा हो तो हँस लीजिए, किन्तु मैं लैला को पा जाने के लिए विकल नहीं था, क्योंकि लैला जिसको पाने की अभिलाषा करती थी, वही उसे न मिला और परिणाम ठीक मेरी आँखों के सामने था। तब?

मेरी सहानुभूति क्यों जगी। हाँ, वह सहानुभूति थी। लैला जैसे दीर्घ पथ पर चलने वाले मुझ पथिक की चिरसंगिनी थी।

उस दिन इतना ही विश्वास करके मुझे सन्तोष हुआ।

रात को कलुआ ने पूछा—बाबूजी! आप घर न चलिएगा। मैं आश्चर्य से उसकी ओर देखने लगा। उसने हठ-भरी आँखों से फिर वही प्रश्न किया। मैंने हँसकर कहा—मेरा घर तो यही है रे कलुआ।

नहीं बाबूजी! जहाँ मिन्ना गए हैं। जहाँ रंजन और जहाँ कमलो गई हैं, वहीं तो घर है।

जहाँ बहूजी गई हैं—जहाँ बाबाजी...हठात् प्रज्ञासारथि का मुझे स्मरण हो आया। मुझे क्रोध में कहना पडा—कलुआ, मुझे और कहीं घर-वर नहीं है। फिर मन-ही-मन कहा—इस बात को वह बौद्ध समझता था—

"हूँ, सबको घर है, बाबाजी को, मिन्ना को—सबको है, आपको नहीं है?" उसने ठुनकते हुए कहा।

किन्तु मैं अपने ऊपर झुँझला रहा था। मैंने कहा—बकवास न कर, जा सो रह, आजकल तू पढ़ता नहीं।

कलुआ सिर झुकाए—व्यथा- भरे वक्षःस्थल को दबाए अपने बिछौने पर जा पड़ा। और मैं उस निस्तब्ध रात्रि में जागता रहा! खिड़की में से झील का आन्दोलित जल दिखाई पड़ रहा था और मैं आश्चर्य से अपना ही बनाया हुआ चित्र उसमें देख रहा था। चंदा के प्रशान्त जल में एक छोटी-सी नाव है, जिस पर मालती, रामेश्वर बैठे थे और मैं डांड़ा चला रहा था। प्रज्ञासारथि तीर पर खड़े बच्चों को बहला रहे थे। हम लोग उजली चाँदनी में नाव खेते हुए चले जा रहे थे। सहसा उस चित्र में एक और मूर्ति का प्रादुर्भाव हुआ। वह थी लैला! मेरी आंखें तिलमिला गईं।

मैं जागता था—सोता था।

सवेरा हो गया था। नींद से भरी आंखें नहीं खुलती थीं, तो भी बाहर के कोलाहल ने मुझे जगा दिया। देखता हूँ ईरानियों का एक झुण्ड बाहर खड़ा है।

मैंने पूछा—क्या है?

गुल ने कहा—यहाँ का पीर कहाँ है?

पीर!—मैंने आश्चर्य से पूछा।

हाँ वही, जो पीला-पीला कपड़ा पहनता था।

मैं समझ गया, वे लोग प्रज्ञासारथि को खोजते थे। मैंने कहा—वह तो यहाँ नहीं हैं, अपने घर गए। काम क्या है?

एक लड़की को हवा लगी है, यहीं का कोई आसेब है। पीर को दिखलाना चाहती हूँ। —एक अधेड़ स्त्री ने बड़ी व्याकुलता से कहा।

मैंने पूछा—भाई! मैं तो यह सब कुछ नहीं जानता। वह लड़की कहाँ है? पड़ाव पर, बाबूजी! आप चलकर देख लीजिए।

आगे वह कुछ बोल न सकी। किन्तु गुल ने कहा—बाबू! तुम जानते हो, वही— लैला!

आगे मैं न सुन सका। अपनी ही अंतर्ध्वनि से मैं व्याकुल हो गया। यही होता है, किसी के उजड़ने से ही दूसरा बसता है। यही विधि-विधान है, तो बसने का नाम उजड़ना ही है। यदि रामेश्वर, मालती और अपने बाल-बच्चों की चिन्ता छोड़कर लैला को ही देखता, तभी... किन्तु वैसा हो कैसे सकता है! मैंने कल्पना की आँखों से देखा; लैला का विवर्ण सुन्दर मुख —निराशा की झुलस से दयनीय मुख!

उन ईरानियों से फिर से बात न करके मैं भीतर चला गया और तकिए में अपना मुँह छिपा लिया। पीछे सुना, कलुआ डाँट बताता हुआ कह रहा है—जाओ-जाओ, यहाँ बाबाजी नहीं रहते!

मैं लड़कों को पढ़ाने लगा। कितना आश्चर्यजनक भयानक परिवर्तन मुझमें हो गया! उसे देखकर मैं ही विस्मित होता था। कलुआ इन्हीं कई महीनों से मेरा एकान्त साथी बन गया। मैंने उसे बार-बार समझाया, किन्तु वह बीच-बीच में मुझसे घर चलने के लिए कह बैठता ही था। मैं हताश हो गया। अब वह जब घर चलने की बात कहता, तो मैं सिर हिलाकर कह देता—अच्छा, अभी चलूँगा।

दिन इसी तरह बीतने लगे। वसन्त के आगमन से प्रकृति सिहर उठी। वनस्पतियों की रोमावली पुलकित थी। मैं पीपल के नीचे उदास बैठा हुआ ईषत् शीतल पवन से अपने शरीर में फुरहरी का अनुभव कर रहा था। आकाश की आलोक-माला चंदा की वीथियों में डुबकियाँ लगा रही थी। निस्तब्ध रात्रि का आगमन बड़ा गम्भीर था।

दूर से एक संगीत की—नन्हीं-नन्हीं करुण वेदना की तान सुनाई पड़ रही थी। उस भाषा को मैं नहीं समझता था। मैंने समझा, यह भी कोई छलना होगी। फिर सहसा मैं विचारने लगा कि नियति भयानक वेग से चल रही है। आँधी की तरह उसमें असंख्य प्राणी तृण-तूलिका के समान इधर-उधर बिखर रहे हैं। कहीं से लाकर किसी को वह मिला ही देती है और ऊपर से कोई बोझे की वस्तु भी लाद देती है कि वे चिरकाल तक एक-दूसरे से सम्बद्ध रहें। सचमुच! कल्पना प्रत्यक्ष हो चली। दक्षिण का आकाश धूसर हो चला—एक दानव ताराओं को निगलने लगा। पक्षियों का कोलाहल बढ़ा। अन्तरिक्ष व्याकुल हो उठा! कड़वाहट में सभी आश्रय खोजने लगे; किन्तु मैं कैसे उठता! वह संगीत की ध्वनि समीप आ रही थी। वज्रनिघोष को भेदकर कोई कलेजे से गा रहा था। अँधकार में, साम्राज्य में तृण, लता, वृक्ष सचराचर कम्पित हो रहे थे।

कलुआ की चीत्कार सुनकर भीतर चला गया। उस भीषण कोलाहल में भी वही संगीत-ध्वनि पवन के हिंडोले पर झूल रही थी, मानो पाठशाला के चारों ओर लिपट रही थी। सहसा एक भीषण अर्राहट हुई। अब मैं टार्च लिये बाहर आ गया।

आँधी रुक गई थी। मैंने देखा कि पीपल की बड़ी-सी डाल फटी पड़ी है और लैला नीचे दबी हुई अपनी भावनाओं की सीमा पार कर चुकी है।

मैं अब भी चंदा-तट की बौद्ध पाठशाला का अवैतनिक अध्यक्ष हूँ। प्रज्ञासारथि के नाम को कोसता हुआ दिन बिताता हूँ। कोई उपाय नहीं। वही जैसे मेरे जीवन का केन्द्र है।

आज भी मेरे हृदय में आँधी चला करती है और उसमें लैला का मुख बिजली की तरह

कौंधा करता है।

चूड़ीवाली

"अभी तो पहना गई हो।"

"बहूजी, बड़ी अच्छी चूड़ियाँ हैं। सीधे बम्बई से पारसल मँगाया है। सरकार का हुक्म है; इसलिए नई चूड़ियाँ आते ही चली आती हूँ।"

"तो जाओ, सरकार को ही पहनाओ, मैं नहीं पहनती।"

"बहूजी! जरा देख तो लीजिए।" कहती मुस्कराती हुई ढीठ चूड़ीवाली अपना बक्स खोलने लगी। वह पचीस वर्ष की एक गोरी-छरहरी स्त्री थी। उसकी कलाई सचमुच चूड़ी पहनाने के लिए ढली थी। पान से लाल पतले-पतले होंठ दो-तीन वक्रताओं में अपना रहस्य छिपाए हुए थे। उन्हें देखने का मन करता, देखने पर उन सलोने अधरों से कुछ बोलवाने का जी चाहता है। बोलने पर हँसाने की इच्छा होती और उसी हँसी में शैशव का अल्हड़पन, यौवन की तरावट और प्रौढ़ की-सी गम्भीरता बिजली के समान लड़ जाती।

बहूजी को उसकी हँसी बहुत बुरी लगती; पर जब पंजों में अच्छी चूड़ी चढ़ाकर, संकट में फँसाकर वह हँसते हुए कहती—"एक पान मिले बिना यह चूड़ी नहीं चढ़ती।" तब बहूजी को क्रोध के साथ हँसी आ जाती और उसकी तरल हँसी की तरी लेने में तन्मय हो जातीं।

कुछ ही दिनों से यह चूड़ीवाली आने लगी है। कभी-कभी बिना बुलाए ही चली आती और ऐसे ढंग फैलाती कि बिना सरकार के आए निबटारा न होता। यह बहूजी को असह्य हो जाता। आज उसको चूड़ी फँसाते देख बहूजी झल्लाकर बोलीं—"आजकल दुकान पर ग्राहक कम आते हैं क्या?"

"बहूजी, आजकल खरीदने की धुन में हूँ, बेचती हूँ कम।" इतना कहकर कई दर्जन चूड़ियाँ बाहर सजा दीं। स्लीपरों के शब्द सुनाई पड़े। बहूजी ने कपड़े सम्हाले, पर वह ढीठ चूड़ीवाली बालिकाओं के समान सिर टेढ़ा करके "यह जर्मनी की है यह फरांसीसी है, यह जापानी है" कहती जाती थी। सरकार पीछे खड़े मुस्करा रहे थे।

"क्या रोज नई चूड़ियाँ पहनाने के लिए इन्हें हुक्म मिला है?" बहूजी ने गर्व से पूछा।

सरकार ने कहा—"पहनो, तो बुरा क्या है?"

"बुरा तो कुछ नहीं, चूड़ी चढ़ाते हुए कलाई दुखती होगी।" चूड़ीवाली ने सिर नीचा किए कनखियों से देखते हुए कहा। एक लहर-सी लाली आँखों की ओर से कपोलों को तर करती हुई दौड़ जाती थी। सरकार ने देखा—एक लालसा-भरी युवती व्यंग्य कर रही है। हृदय में हलचल मच गई, घबराकर बोले—"ऐसा है, तो न पहनें।"

"भगवान करे, रोज पहनें," चूड़ीवाली आशीर्वाद देने के गम्भीर स्वर में प्रौढ़ा के समान बोली।

"अच्छा, तुम अभी जाओ।" सरकार और चूड़ीवाली दोनों की ओर देखते हुए बहूजी ने झुँझलाकर कहा।

"तो क्या मैं लौट जाऊँ? आप तो कहती थीं न, कि सरकार को ही पहनाओ, तो जरा उनसे पहनने के लिए कह दीजिए।"

"निकल मेरे यहाँ से।" कहते हुए बहूजी की आँखें तिलमिला उठीं। सरकार धीरे से निकल गए। अपराधी के समान सिर नीचा किए चूड़ीवाली अपनी चूड़ियाँ बटोरकर उठी। हृदय की धड़कन में अपनी रहस्यपूर्ण निश्वास छोड़ती हुई चली गई।

चूड़ीवाली का नाम था विलासिनी। वह नगर की एक प्रसिद्ध नर्तकी की कन्या थी। उसके रूप और संगीत-कला की सुख्याति थी, वैभव भी कम न था! विलास और प्रमोद का पर्याप्त सम्भार मिलने पर भी उसे सन्तोष न था। हृदय में कोई अभाव खटकता था, वास्तव में उसकी मनोवृत्ति उसके व्यवसाय के प्रतिकूल थी।

कुलवधू बनने की अभिलाषा हृदय में और दाम्पत्य-सुख का स्वर्गीय स्वप्न उसकी आँखों में समाया था। स्वच्छन्द प्रणय का व्यापार अरुचिकर हो गया, परन्तु समाज उससे हिंस्र पशु के समान सशंक था। उससे आश्रय मिलना असम्भव जानकर विलासिनी ने छल के द्वारा वही सुख लेना चाहा। यह उसकी सरल आवश्यकता थी, क्योंकि अपने व्यवसाय में उसका प्रेम क्रय करने के लिए बहुत-से लोग आते थे, पर विलासिनी अपना हृदय खोलकर किसी से प्रेम न कर सकती थी।

उन्हीं दिनों सरकार के रूप, यौवन और चारित्र्य ने उसे प्रलोभन दिया। नगर के समीप बाबू विजयकृष्ण की अपनी जमींदारी में बड़ी सुन्दर अट्टालिका थी। वहीं रहते थे। उनके अनुचर और प्रजा उन्हें सरकार कहकर पुकारती थी। विलासिनी की आँखें विजयकृष्ण पर गड़ गईं। अपना चिर-संचित मनोरथ पूर्ण करने के लिए वह कुछ दिनों के लिए चूड़ीवाली बन गई थी।

सरकार चूड़ीवाली को जानते हुए भी अनजान बने रहे। अमीरी का एक कौतुक था, एक खिलवाड़ समझकर उसके आने-जाने में बाधा न देते। विलासिनी के कला- पूर्ण सौन्दर्य ने जो कुछ प्रभाव उनके मन पर डाला था, उसके लिए उनके सुरुचिपूर्ण मन ने अच्छा बहाना खोज लिया था, वे सोचते, 'बहूजी का कुल-वधू-जनोचित सौन्दर्य और वैभव की मर्यादा

देखकर चूड़ीवाली स्वयं पराजय स्वीकार कर लेगी और अपना निष्फल प्रयत्न छोड़ देगी, तब तक यह एक अच्छा मनोविनोद चल रहा है!'

चूड़ीवाली अपने कौतूहलपूर्ण कौशल में सफल न हो सकी थी, परन्तु बहूजी के आज के दुर्व्यवहार ने प्रतिक्रिया उत्पन्न कर दी और चोट खाकर उसने सरकार को घायल कर दिया।

अब सरकार प्रकाश्य रूप से उसके यहाँ जाने लगे। विलास-रजनी का प्रभात भी चूड़ीवाली के उपवन में कटता। कुल-मर्यादा, लोकलाज और जमींदारी सब एक ओर और चूड़ीवाली अकेले। दालान में कुर्सियों पर सरकार और चूड़ीवाली बैठकर रात्रि- जागरण का खेद मिटा रहे थे, पास ही अनार का वृक्ष था, उसमें फूल खिले थे। एक बहुत ही छोटी काली चिड़िया उन फूलों में चोंच डालकर मकरन्द पान करती और कुछ केसर खाती, फिर हृदयविमोहक कलनाद करती हुई उड़ जाती।

सरकार बड़ी देर से कौतुक देख रहे थे, बोले—"इसे पकड़कर पालतू बनाया जाए, तो कैसा?"

"उहूँ, यह फूलसुंघी है। पींजरे में जी नहीं सकती। उसे फूलों का प्रदेश ही जिला सकता है, स्वर्ण-पिंजर नहीं, उसे खाने के लिए फूलों की केसर का चारा और पीने के लिए मकरन्द-मदिरा कौन जुटावेगा?"

"पर इसकी सुन्दर-बोली संगीत-कला की चरम सीमा है; वीणा में भी कोई-कोई मीड़ ऐसी निकलती होगी। इसे अवश्य पकड़ना चाहिए।"

"जिसमें बाधा नहीं, बंधन नहीं, जिसका सौन्दर्य स्वच्छन्द है, उस असाधारण प्राकृतिक कला का मूल्य क्या बन्धन है? कुरुचि के द्वारा वह कलंकित भले भी हो जाए, परन्तु पुरस्कृत नहीं हो सकती। उसे आप पिंजरे में बन्द करके पुरस्कार देंगे या दंड?" कहते हुए उसने विजय की एक व्यंग-भरी मुस्कान छोड़ी। सरकार की— उस वन-विहंगम को पकड़ने की लालसा बलवती हो उठी। उन्होंने कहा—"जाने भी दो, वह अच्छी कला नहीं जानती।" प्रसंग बदल गया। नित्य का साधारण विनोदपूर्ण क्रम चला।

चूड़ीवाली अपने अभ्यास के अनुसार समझती कि यदि बहूजी की अपार-प्रणयसम्पत्ति में से कुछ अंश मैं भी लेती हूँ, तो हानि क्या, परन्तु बहूजी को अपने प्रणय के एकाधिपत्य पर पूर्ण विश्वास था। वह निष्क्रिय प्रतिरोध करने लगीं। राजयक्ष्मा के भयानक आक्रमण से वह घुलने लगीं और सरकार वन-विहंगिनी विलासिनी को स्वायत्त करने में दत्तचित्त हुए। रोगी की शुश्रूषा और सेवा में कोई कमी थी, परन्तु एक बड़े मुकदमे में सरकार का उधर सर्वस्वान्त हुआ, इधर बहूजी चल बसीं।

चूड़ीवाली ने समझा कि उसकी पूर्ण विजय हुई, पर बात कुछ दूसरी थी। विजयकृष्ण का वह एक विनोद था। जब सब कुछ चला गया, तब विनोद लेकर क्या होगा। एक दिन चूड़ीवाली से छुट्टी मांगी। उसने कहा—“कमी किस बात की है, मैं तुम्हारी ही हूँ और सब विभव भी तुम्हारा है।” विजयकृष्ण ने कहा—“मैं वेश्या की दी हुई जीविका से पेट पालने में असमर्थ हूँ।” चूड़ीवाली बिलखने लगी, विनय किया, रोई, गिड़गिड़ाई, पर विजयकृष्ण चले ही गए! वह सोचने लगी कि—“अपना व्यवसाय और विजय की गृहस्थी बिगाड़कर जो सुख खरीदा था, उसका कोई मूल्य नहीं। मैं कुलवधू होने के उपयुक्त नहीं। क्या समाज के पास इसका कोई प्रतिकार नहीं? इतनी तपस्या और इतना स्वार्थ-त्याग व्यर्थ है?”

परन्तु विलासिनी यह न जानती थी कि स्त्री और पुरुष-सम्बन्धी समस्त अंतिम निर्णय करने में समाज कितना ही उदास क्यों न हो; दोनों पक्षों को सर्वथा सन्तुष्ट नहीं कर सका और न कर सकने की आशा है। यह रहस्य सृष्टि को उलझा रखने की कुंजी है।

विलासिनी ने बहुत सोच-समझकर अपनी जीवनचर्या बदल डाली। सरकार से मिली हुई जो कुछ सम्पत्ति थी, उसे बेचकर पास ही के एक गाँव में खेती करने के लिए भूमि लेकर आदर्श हिन्दू गृहस्थ की-सी तपस्या करने में अपना बिखरा हुआ मन उसने लगा दिया। उसके कच्चे मकान के पास एक विशाल वट-वृक्ष और निर्मल जल का सरोवर था। वहीं बैठकर चूड़ीवाली ने पथिकों की सेवा करने का संकल्प किया। थोड़े ही दिनों में अच्छी खेती होने लगी और अन्न से उसका घर भरा रहने लगा। भिखारियों को अन्न देकर उन्हें खिला देने में उसे अकथनीय सुख मिलता। धीरे-धीरे दिन ढलने लगा, चूड़ीवाली को सहेली बनाने के लिए यौवन का तीसरा पहर करुणा और शान्ति को पकड़ लाया। उस पथ से चलने वाले पथिकों को दूर से किसी कला कुशल कंठ की तान सुनाई पड़ती—

अब लौं नसानी अब न नसैहौं।

वट-वृक्ष के नीचे, एक अनाथ बालक नंदू को चना और गुड़ की दुकान चूड़ीवाली ने करा दी है। जिन पथिकों के पास पैसे न होते, उनका मूल्य वह स्वयं देकर नंदू की दुकान में घाटा न होने देती और पथिक भी विश्राम किए बिना उस तालाब से न जाता। कुछ ही दिनों में चूड़ीवाली का तालाब विख्यात हो गया।

सन्ध्या हो चली थी। पखेरुओं का बसेरे की ओर लौटने का कोलाहल मचा और वट-वृक्ष में चहल-पहल हो गई। चूड़ीवाली चरनी के पास खड़ी बैलों को देख रही थी। दालान में दीपक जल रहा था, अंधकार उसके घर और मन में बलजोरी घुस रहा था। कोलाहल-शून्य जीवन में भी चूड़ीवाली को शान्ति मिली, ऐसा विश्वास नहीं होता था। पास ही उसकी पिंडलियों से सिर रगड़ता हुआ कलुआ दुम हिला रहा था। सुखिया उसके लिए घर में से कुछ खाने को ले आई थी; पर कलुआ उधर न देखकर अपनी स्वामिनी से स्नेह जता रहा था। चूड़ीवाली ने हँसते हुए कहा—“चल, तेरा दुलार हो चुका। जा, खा ले।” चूड़ीवाली ने मन में सोचा, कंगाल मनुष्य स्नेह के लिए क्यों भीख माँगता है? वह स्वयं नहीं करता, नहीं तो तृण-वीरुध तथा

पशु-पक्षी भी तो स्नेह करने के लिए प्रस्तुत हैं। इतने में नंदू ने आकर कहा—"मां, एक बटोही बहुत थका हुआ अभी आया है। भूख के मारे वह जैसे शिथिल हो गया है।"

"तूने क्यों नहीं दे दिया?"

"लेता भी नहीं, कहता है, तू बड़ा गरीब लड़का है, तुझसे न लूँगा।"

चूड़ीवाली वट-वृक्ष की ओर चल पड़ी। अँधेरा हो गया था। पथिक जड़ का सहारा लेकर लेटा था। चूड़ीवाली ने हाथ जोड़कर कहा—"महाराज, आप कुछ भोजन कीजिए।

"तुम कौन हो?"

"पहले की एक वेश्या।"

"छिः, मुझे पड़े रहने दो, मैं नहीं चाहता कि तुम मुझसे बोलो भी, क्योंकि तुम्हारा व्यवसाय कितने ही सुखी घरों को उजाड़कर श्मशान बना देता है।"

"महाराज, हम लोग तो कला के व्यवसायी हैं। यह अपराध कला का मूल्य लगाने वालों की कुरुचि और कुत्सित इच्छा का है। संसार में बहुत-से निर्लज्ज स्वार्थपूर्ण व्यवसाय चलते हैं। फिर इसी पर इतना क्रोध क्यों?"

"क्योंकि वह उन सबों में अधम और निकृष्ट है।"

"परन्तु वेश्या का व्यवसाय करके भी मैंने एक ही व्यक्ति से प्रेम किया था। मैं और धर्म नहीं जानती, पर अपने सरकार से जो कुछ मुझे मिला, उसे मैं लोक-सेवा में लगाती हूँ। मेरे तालाब पर कोई भूखा नहीं रहने पाता। मेरी जीविका चाहे जो रही हो, मेरे अतिथि-धर्म में बाधा न दीजिए।"

पथिक एक बार ही उठकर बैठ गया और आँख गड़ाकर अँधेरे में देखने लगा। सहसा बोल उठा—"चूड़ीवाली?"

"कौन सरकार?"

"हाँ, तुमने शोक हर लिया। मेरे अपराधजनक तमाम त्याग में पुण्य का भी भाग था, यह मैं नहीं जानता।"

"सरकार! मैंने गृहस्थ-कुलवधू होने के लिए कठोर तपस्या की है। इन चार वर्षों में मुझे विश्वास हो गया है कि कुलवधू होने में जो महत्त्व है, वह सेवा का है, न कि विलास का।"

"सेवा ही नहीं, चूड़ीवाली! उसमें विलास का अनन्त यौवन है, क्योंकि केवल स्त्री-पुरुष के शारीरिक बन्धन में वह पर्यवसित नहीं है, बाह्य साधनों के विकृत हो जाने तक ही, उसकी सीमा नहीं, गार्हस्थ्य जीवन उसके लिए प्रचुर उपकरण प्रस्तुत करता है, इसलिए वह प्रेय भी है और श्रेय भी है। मुझे विश्वास है कि तुम अब सफल हो जाओगी।"

"मेरी सफलता आपकी कृपा पर है। विश्वास है कि अब इतने निर्दय न होंगे"—कहते-कहते चूड़ीवाली ने सरकार के पैर पकड़ लिए।

सरकार ने उसके हाथ पकड़ लिए।

बिसाती

उद्यान की शैल-माला के नीचे एक हरा-भरा छोटा-सा गाँव है। वसन्त का सुन्दर समीर उसे आलिंगन करके फूलों के सौरभ से उनके झोपड़ों को भर देता है। तलहटी के हिम-शीतल झरने उसको अपने बाहुपाश में जकड़े हुए हैं। उस रमणीय प्रदेश में एक स्निग्ध-संगीत निरन्तर चला करता है जिसके भीतर बुलबुलों का कलनाद, कम्प और लहर उत्पन्न करता है।

दाड़िम के लाल फूलों की रंगीली छाया सन्ध्या की अरुण किरणों से चमकीली हो रही थी। शीरीं उसी के नीचे शिलाखंड पर बैठी हुई सामने गुलाबों का झुरमुट देख रही थी, जिसमें बहुत से बुलबुल चहचहा रहे थे, वे समीरण के साथ छूल-छुलैया खेलते हुए आकाश को अपने कलरव से गुंजित कर रहे थे।

शीरीं ने सहसा अपना अवगुंठन उलट दिया। प्रकृति प्रसन्न हो हँस पड़ी। गुलाबों के दल में शीरीं का मुख राजा के समान सुशोभित था। मकरन्द मुँह में भरे दो नील-भ्रमर उस गुलाब से उड़ने में असमर्थ थे, भौंरों के पद निस्पन्द थे। कँटीली झाड़ियों की कुछ परवाह न करते हुए बुलबुलों का उसमें घुसना और उड़ भागना शीरीं तन्मय होकर देख रही थी।

उसकी सखी जुलेखा के आने से उसकी एकान्त भावना भंग हो गई। अपना अवगुंठन उलटते हुए जुलेखा ने कहा—"शीरीं! वह तुम्हारे हाथों पर आकर बैठ जानेवाला बुलबुल, आज-कल नहीं दिखलाई देता?"

आह खींचकर शीरीं ने कहा—"कड़े शीत में अपने दल के साथ मैदान की ओर निकल गया। वसन्त तो आ गया, पर वह नहीं लौट आया।"

"सुना है कि ये सब हिन्दुस्तान में बहुत दूर तक चले जाते हैं। क्या यह सच है, शीरीं?"

"हाँ प्यारी! उन्हें स्वाधीन विचरना अच्छा लगता है। इनकी जाति बड़ी स्वतन्त्रता-प्रिय है।"

"तूने अपनी घुंघराली अलकों के पाश में उसे क्यों न बाँध लिया?"

"मेरे पाश उस पक्षी के लिए ढीले पड़ जाते थे।"

"अच्छा लौट आवेगा—चिन्ता न कर। मैं घर जाती हूँ।" शीरीं ने सिर हिला दिया। जुलेखा चली गई।

जब पहाड़ी आकाश में सन्ध्या अपने रंगीले पट फैला देती, जब विहंग केवल कलरव करते पंक्ति बाँधकर उड़ते हुए गुंजान झाड़ियों की ओर लौटते और अनिल में उनके कोमल परों से लहर उठती, जब समीर अपनी झोंकेदार तरंगों में बार-बार अँधकार को खींच लाता, जब गुलाब अधिकाधिक सौरभ लुटाकर हरी चादर में मुँह छिपा लेना चाहते थे; तब शीरीं की आशा-भरी दृष्टि कालिमा से अभिभूत होकर पलकों में छिपने लगी। वह जागते हुए भी एक स्वप्न की कल्पना करने लगी।

हिन्दुस्तान के समृद्धिशाली नगर की गली में एक युवक पीठ पर गट्ठर लादे घूम रहा है। परिश्रम और अनाहार से उसका मुख विवर्ण है। थककर वह किसी के द्वार पर बैठ गया है। कुछ बेचकर उस दिन की जीविका प्राप्त करने की उत्कंठा उसकी दयनीय बातों से टपक रही है, परन्तु वह गृहस्थ कहता है—"तुम्हें उधार देना हो तो दो, नहीं तो अपनी गठरी उठाओ। समझे आगा?"

युवक कहता है—"मुझे उधार देने की सामर्थ्य नहीं।"

"तो मुझे भी कुछ नहीं चाहिए।"

शीरीं अपनी इस कल्पना से चौंक उठी। काफिले के साथ अपनी सम्पत्ति लादकर खैबर के गिरि-संकट को वह अपनी भावना से पदाक्रान्त करने लगी।

उसकी इच्छा हुई कि हिन्दुस्तान के प्रत्येक गृहस्थ के पास हम इतना धन रख दें कि वे अनावश्यक होने पर भी उस युवक की सब वस्तुओं का मूल्य देकर उसका बोझ उतार दें, परन्तु सरला शीरीं निस्सहाय थी। उसके पिता एक क्रूर पहाड़ी सरदार थे। उसने अपना सिर झुका लिया। कुछ सोचने लगी।

सन्ध्या का अधिकार हो गया। कलरव बन्द हुआ। शीरीं की साँसों के समान समीर की गति अवरुद्ध हो उठी। उसकी पीठ शिला से टिक गई।

दासी ने आकर उसको प्रकृतिस्थ किया। उसने कहा—"बेगम बुला रही हैं। चलिए मेंहदी आ गई है।"

महीनों हो गए। शीरीं का ब्याह एक धनी सरदार से हो गया। झरने के किनारे शीरीं के बाग में शवरी खींची है। पवन अपने एक-एक थपेड़े में सैंकड़ों फूलों को रुला देता है। मधु-धारा बहने लगती है। बुलबुल उसकी निर्दयता पर क्रन्दन करने लगते हैं। शीरीं सब सहन करती रही। सरदार का मुख उत्साहपूर्ण था। सब होने पर भी वह एक सुन्दर प्रभात था।

एक दुर्बल और लम्बा युवक पीठ पर एक गट्ठर लादे सामने आकर बैठ गया। शीरीं ने उसे देखा, पर वह किसी ओर देखता नहीं। अपना सामान खोलकर सजाने लगा।

सरदार अपनी प्रेयसी को उपहार देने के लिए काँच की प्याली और कश्मीरी सामान छाँटने लगा।

शीरीं चुपचाप थी, उसके हृदय-कानन में कलरवों का क्रन्दन हो रहा था। सरदार ने दाम पूछा। युवक ने कहा—"मैं उपहार देता हूँ, बेचता नहीं। ये विलायती और कश्मीरी

सामान मैंने चुनकर लिए हैं। इसमें मूल्य ही नहीं, हृदय भी लगा है। ये दाम पर नहीं बिकते।"

सरदार ने तीक्ष्ण स्वर में कहा—"तब मुझे न चाहिए। ले जाओ, उठाओ।"

"अच्छा, उठा ले जाऊँगा। मैं थका हुआ आ रहा हूँ, थोड़ा अवसर दीजिए, मैं हाथ-मुँह धो लूँ।" कहकर युवक भरभराई हुई आँखों को छिपाते, उठ गया।

सरदार ने समझा, झरने की ओर गया होगा। विलम्ब हुआ, पर वह न आया। गहरी चोट और निर्मम व्यथा को वहन करते कलेजा हाथ से पकड़े हुए, शीरीं गुलाब की झाड़ियों की ओर देखने लगी, परन्तु उसकी आँसू-भरी आँखों को कुछ न सूझता था। सरदार ने प्रेम से उसकी पीठ पर हाथ रखकर पूछा—"क्या देख रही हो?"

"एक मेरा पालतू बुलबुल शीत में की हिन्दुस्तान ओर चला गया था। वह लौटकर आज सवेरे दिखलाई पड़ा, पर जब वह पास आ गया और मैंने उसे पकड़ना चाहा, तो वह उधर कोहकाफ की ओर भाग गया।"—शीरीं के स्वर में कम्पन था, फिर भी वे शब्द बहुत सम्हलकर निकले थे। सरदार ने हँसकर कहा—"फूल को बुलबुल की खोज? आश्चर्य है!"

बिसाती अपना सामान छोड़ गया। फिर लौटकर नहीं आया। शीरीं ने बोझ तो उतार लिया, पर दाम नहीं दिया।

घीसू

सन्ध्या की कालिमा और निर्जनता में किसी कुएँ पर नगर के बाहर बड़ी प्यारी स्वर-लहरी गूँजने लगती। घीसू को गाने का चस्का था। परन्तु जब कोई न सुने, वह अपनी बूटी अपने लिए घोंटता और आप ही पीता!

जब उसकी रसीली तान दो-चार को पास बुला लेती, वह चुप हो जाता। अपनी बटुई में सब सामान बटोरने लगता और चल देता। कोई नया कुआँ खोजता, कुछ दिन वहाँ अड्डा जमता।

सब करने पर भी वह नौ बजे नंदू बाबू के कमरे में पहुँच ही जाता। नंदू बाबू का भी वही समय था, बीन लेकर बैठने का। घीसू को देखते ही वह कह देते—आ गए, घीसू!

हाँ बाबू, गहरेबाजों ने बड़ी धूल उड़ाई—साफे का लोच आते-आते बिगड़ गया! कहते-कहते वह प्राय: जयपुरी गमछे को बड़ी मीठी आँखों से देखता और नंदू बाबू उसके कन्धे तक बाल, छोटी-छोटी दाढ़ी, बड़ी-बड़ी गुलाबी आँखों को स्नेह से देखते। घीसू उनका नित्य दर्शन करनेवाला, उनकी बीन सुननेवाला भक्त था। नंदू बाब उसे अपने डिब्बे से दो खिल्ली पान की देते हुए कहते—लो, इसे जमा लो! क्यों, तुम तो इसे जमा लेना ही कहते हो न?

वह विनम्र भाव से पान लेते हुए हँस देता—उसके स्वच्छ मोती-से दाँत हँसने लगते।

घीसू की अवस्था पच्चीस की होगी। उसकी बूढ़ी माता को मरे भी तीन वर्ष हो गए थे।

नंदू बाबू की बीन सुनकर वह बाजार से कचौड़ी और दूध लेता, घर जाता, अपनी कोठरी में गुनगुनाता हुआ सो जाता।

उसकी पूँजी थी एक सौ रुपये। वह रेजगी और पैसे की थैली लेकर दशाश्वमेध पर बैठता, एक पैसा रुपया बट्टा लिया करता और उसको बारह-चौदह आने की बचत हो जाती थी।

गोविंदराम जब बूटी बनाकर उसे बुलाते, वह अस्वीकार करता। गोविंदराम कहते—

बड़ा कंजूस है। सोचता है, पिलाना पड़ेगा, इसी डर से नहीं पीता।

घीसू कहता—नहीं भाई, मैं संध्या को केवल एक बार ही पीता हूँ।

गोविंदराम के घाट पर बिंदो नहाने आती, दस बजे उसकी उजली धोती में गोराई फूट पड़ती। कभी रेजगी पैसे लेने के लिए वह घीसू के सामने आकर खड़ी हो जाती, उस दिन घीसू को असीम आनन्द होता। वह कहती—देखो, घिसे पैसे न देना। वाह बिंदो! घिसे पैसे तुम्हारे ही लिए हैं? क्यों?

तुम तो घीसू ही हो, फिर तुम्हारे पैसे क्यों न घिसे होंगे?—कहकर जब वह मुस्करा देती; तो घीसू कहता—बिंदो! इस दुनिया में मुझसे अधिक कोई न घिसा; इसीलिए तो मेरे माता-पिता ने घीसू नाम रखा था।

बिंदों की हँसी आँखों में लौट जाती। वह एक दबी हुई साँस लेकर दशाश्वमेध के तरकारी-बाजार में चली जाती।

बिंदो नित्य रुपया नहीं तुड़ाती; इसीलिए घीसू को इसकी बातों के सुनने का आनन्द भी किसी-किसी दिन न मिलता। तो भी वह एक नशा था, जिससे कई दिनों के लिए भरपूर तृप्ति हो जाती, वह मूक मानसिक विनोद था।

घीसू नगर के बाहर गोधूलि की हरी-भरी क्षितिज-रेखा में उसके सौन्दर्य से रंग भरता, गाता, गुनगुनाता और आनन्द लेता। घीसू की जीवन-यात्रा का वही सम्बल था, वही पाथेय था।

सन्ध्या की शून्यता, बूटी की गमक, तानों की रसीली गुन्नाहट और नंदू बाबू की बीन, सब बिंदो की आराधना की सामग्री थी। घीसू कल्पना के सुख से सुखी होकर सो रहता।

उसने कभी विचार भी न किया था कि बिंदो कौन है? किसी तरह से उसे इतना तो विश्वास हो गया था कि वह एक विधवा है; परन्तु इससे अधिक जानने की उसे जैसे आवश्यकता नहीं।

रात के आठ बजे थे, घीसू बाहरी ओर से लौट रहा था। सावन के मेघ घिरे थे, फूही पड़ रही थी। घीसू गा रहा था—'निसि दिन बरसत नैन हमारे'।

सड़क पर कीचड़ की कमी न थी। वह धीरे-धीरे चल रहा था, गाता जाता था। सहसा वह रुका! एक जगह सड़क में पानी इकट्ठा था। छींटों से बचने के लिए वह ठिठककर—किधर से चलें—सोचने लगा। पास के बगीचे के कमरे से उसे सुनाई पड़ा—यही तुम्हारा दर्शन है—यहाँ इस मुँहजली को लेकर पड़े हो। मुझसे...।

दूसरी ओर से कहा गया—तो इसमें क्या हुआ! क्या तुम मेरी ब्याही हुई हो, जो मैं तुम्हें इसका जवाब देता फिरूँ?—इस शब्द में भर्राहट थी, शराबी की बोली थी।

घीसू ने सुना, बिंदो कह रही थी—मैं कुछ नहीं हूँ, लेकिन तुम्हारे साथ मैंने धर्म बिगाड़ा है, सो इसीलिए नहीं कि तुम मुझे फटकारते फिरो। मैं इसका गला घोंट दूँगी और—तुम्हारा भी...बदमाश...

ओहो! मैं बदमाश हूँ! मेरा ही खाती है और मुझसे ही...ठहर तो, देखूं किसके साथ तू यहाँ आई है, जिसके भरोसे इतना बढ़-बढ़कर बातें कर रही है! पाजी...लुच्ची...भाग, नहीं तो

छुरा भोंक दूँगा!

छुरा भोंकेगा! मार डाल हत्यारे! मैं आज अपनी और तेरी जान दूँगी और लूँगी—तुझे भी फ़ाँसी पर चढ़वाकर छोडूँगी!

एक चिल्लाहट और धक्कम-धक्का का शब्द हुआ। घीसू से अब न रहा गया, उसने बगल में दरवाजे पर धक्का दिया, खुला हुआ था, भीतर घूम-फिरकर पलक मारते-मारते घीसू कमरे में जा पहुँचा। बिंदो गिरी हुई थी, और एक अधेड़ मनुष्य उसका जूड़ा पकड़े था। घीसू की गुलाबी आँखों से खून बरस था। उसने कहा—हैं। यह औरत है...इसे...

मारनेवाले ने कहा—तभी तो, इसी के साथ यहाँ तक आई हो! तो, यह तुम्हारा यार आ गया।

बिंदो ने घूमकर देखा—घीसू! वह रो पड़ी।

अधेड़ ने कहा—ले, चली जा, मौज कर! आज से मुझे अपना मुँह मत दिखाना!

घीसू ने कहा—भाई, तुम विचित्र मनुष्य हो। लो, चला जाता हूँ। मैंने तो छुरा भोंकने इत्यादि और चिल्लाने का शब्द सुना, इधर चला आया। मुझे तुम्हारे झगड़े से क्या सम्बन्ध!

मैं कहाँ ले जाऊँगा भाई! तुम जानो, तुम्हारा काम जाने। लो, मैं जाता हूँ कहकर घीसू जाने लगा।

बिंदो ने कहा—ठहरो!

घीसू रुक गया।

बिंदो ने फिर कहा—तो जाती हूँ,—अब इसी के संग...।

हाँ-हाँ, यह भी क्या पूछने की बात है!

बिंदो चली, घीसू भी पीछे-पीछे बगीचे के बाहर निकल आया। सड़क सुनसान थी। दोनों चुपचाप चले। गोदौलिया चौमुहानी पर आकर घीसू ने पूछा—अब तो तुम अपने घर चली जाओगी!

कहाँ जाऊँगी! अब तुम्हारे घर चलूँगी।

घीसू बड़े असमंजस में पड़ा। उसने कहा—मेरे घर कहाँ? नंदू बाबू की एक कोठरी है, वहीं पड़ा रहता हूँ, तुम्हारे वहाँ रहने की जगह कहाँ!

बिंदो ने रो दिया। चादर के छोर से आँसू पोंछती हुई, उसने कहा—तो फिर तुमको इस समय वहाँ पहुँचने की क्या पड़ी थी। मैं जैसा होता, भुगत लेती! तुमने वहाँ पहुँचकर मेरा सब चौपट कर दिया—मैं कहीं की न रही!

सड़क पर बिजली के उजाले में रोती हुई बिंदो से बात करने में घीसू का दम घुटने लगा। उसने कहा—तो चलो।

दूसरे दिन, दोपहर को थैली गोविंदराम के घाट पर रखकर घीसू चुपचाप बैठा रहा। गोविंदराम की बूटी बन रही थी। उन्होंने कहा—घीसू, आज बूटी लोगे?

घीसू कुछ न बोला।

गोविंदराम ने उसका उतरा हुआ मुँह देखकर कहा—क्या कहें घीसू! आज तुम उदास क्यों हो?

क्या कहूँ भाई! कहीं रहने की जगह खोज रहा हूँ—कोई छोटी-सी कोठरी मिल जाती, जिसमें सामान रखकर ताला लगा दिया करता।

गोविंदराम ने पूछा—जहाँ रहते थे?

वहाँ अब जगह नहीं है।

इसी मढ़ी में क्यों नहीं रहते! ताला लगा दिया करो, मैं तो चौबीस घंटे रहता नहीं।

घीसू की आँखों में कृतज्ञता के आँसू भर आए।

गोविंद ने कहा—तो उठो, आज तो बूटी छान लो।

घीसू पैसे की दुकान लगाकर अब भी बैठता है और बिंदो नित्य गंगा नहाने आती है। वह घीसू की दुकान पर खड़ी होती है, उसे वह चार आने पैसे देता है। अब दोनों हँसते नहीं, मुस्कराते नहीं।

घीसू का बाहरी ओर जाना छूट गया है। गोविंदराम की डोंगी पर उस पार हो आता है, लौटते हुए बीच गंगा में से उसकी लहरीली तान सुनाई पड़ती है; किन्तु घाट पर आते-आते चुप।

बिंदो नित्य पैसा लेने आती। न तो कुछ बोलती और न घीसू कुछ कहता। घीसू की बड़ी-बड़ी आँखों के चारों ओर हल्के गड्ढे पड़ गए थे। बिंदो उसे स्थिर दृष्टि से देखती और चली जाती। दिन-पर-दिन वह यह भी देखती कि पैसों की ढेरी कम होती जाती है। घीसू का शरीर भी गिरता जा रहा है। फिर भी एक शब्द नहीं, एक बार पूछने का काम नहीं।

गोविंदराम ने एक दिन पूछा—घीसू, तुम्हारी तान इधर सुनाई नहीं पड़ी।

उसने कहा—तबीयत अच्छी नहीं है।

गोविंद ने उसका हाथ पकड़कर कहा—क्या तुम्हें ज्वर आता है?

नहीं तो, यों ही आजकल भोजन बनाने में आलस करता हूँ, अण्ड-बण्ड खा लेता हूँ।

गोविंदराम ने पूछा—बूटी छोड़ दी है, इसी से तुम्हारी यह दशा है।

उस समय घीसू सोच रहा था—नंदू बाबू की बीन सुने बहुत दिन हुए, वे क्या सोचते होंगे!

गोविंदराम के चले जाने पर घीसू अपनी कोठरी में लेट रहा। उसे सचमुच ज्वर आ गया।

भीषण ज्वर था, रात-भर वह छटपटाता रहा। बिंदो समय पर आई, मढ़ी के चबूतरे पर उस दिन घीसू की दुकान न थी। वह खड़ी रही। फिर सहसा उसने दरवाज़ा धकेलकर भीतर देखा—घीसू छटपटा रहा था! उसने जल पिलाया।

घीसू ने कहा—बिंदो। क्षमा करना; मैंने तुम्हें बड़ा दु:ख दिया। अब मैं चला। लो, यह बचा हुआ पैसा! तुम जानो भगवान्...कहते-कहते उसकी आँखें टंग गईं। बिंदो की आँखों से आँसू बहने लगे। वह गोविंदराम को बुला लाई।

बिंदो अब भी बची हुई पूँजी से पैसे की दुकान करती है। उसका यौवन, रूप-रंग कुछ नहीं रहा। बचा रहा—थोड़ा-सा पैसा और बड़ा-सा पेट—और पहाड़-से आनेवाले दिन!

छोटा जादूगर

कार्निवल के मैदान में बिजली जगमगा रही थी। हँसी और विनोद का कलनाद गूँज रहा था। मैं खड़ा था। उस छोटे फुहारे के पास, एक लड़का चुपचाप शराब पीनेवालों को देख रहा था। उसके गले में फटे कुरते के ऊपर से एक मोटी-सी सूत की रस्सी पड़ी थी और जेब में कुछ ताश के पत्ते थे। उसके मुँह पर गम्भीर विषाद के साथ धैर्य की रेखा थी। मैं उसकी ओर न जाने क्यों आकर्षित हुआ। उसके अभाव में भी सम्पूर्णता थी। मैंने पूछा—'क्यों जी, तुमने इसमें क्या देखा?'

'मैंने सब देखा है। यहाँ चूड़ी फेंकते हैं। खिलौनों पर निशाना लगाते हैं। तीर से नम्बर छेदते हैं। मुझे तो खिलौनों पर निशाना लगाना अच्छा मालूम हुआ। जादूगर तो बिलकुल निकम्मा है। उससे अच्छा तो ताश का खेल मैं ही दिखा सकता हूँ।'—उसने बड़ी प्रगल्भता से कहा। उसकी वाणी में कहीं रुकावट न थी।

मैंने पूछा—'और उस परदे में क्या है? वहाँ तुम गये थे।'

'नहीं, वहाँ मैं नहीं जा सका। टिकट लगता है।'

मैंने कहा—'तो चलो, मैं वहीं पर तुमको लिवा चलूँ।' मैंने मन-ही-मन कहा—'भाई! आज के तुम्हीं मित्र रहे।'

उसने कहा—'वहाँ जाकर क्या कीजियेगा? चलिये, निशाना लगाया जाए।'

मैंने उससे सहमत होकर कहा—'तो फिर चलो, पहिले शरबत पी लिया जाए।' उसने स्वीकार-सूचक सिर हिला दिया।

मनुष्यों की भीड़ से जाड़े की सन्ध्या भी वहाँ गर्म हो रही थी। हम दोनों शरबत पीकर निशाना लगाने चले। राह में ही उससे पूछा—'तुम्हारे और कौन हैं?'

'माँ और बाबूजी।'

'उन्होंने तुमको यहाँ आने के लिए मना नहीं किया?'

'बाबूजी जेल में हैं।'

‘क्यों?’

‘देश के लिए।’—वह गर्व से बोला।

‘और तुम्हारी माँ?’

‘वह बीमार हैं।’

‘और तुम तमाशा देख रहे हो?’

उसके मुँह से तिरस्कार की हँसी फूट पड़ी। उसने कहा—‘तमाशा देखने नहीं, दिखाने निकला हूँ। कुछ पैसे ले जाऊँगा, तो माँ को पथ्य दूँगा। मुझे शरबत न पिलाकर आपने मेरा खेल देखकर मुझे कुछ दे दिया होता, तो मुझे अधिक प्रसन्नता होती!’

मैं आश्चर्य से उस तेरह-चौदह वर्ष के लड़के को देखने लगा।

‘हाँ, मैं सच कहता हूँ बाबूजी! माँ जी बीमार हैं; इसलिए मैं नहीं गया।’

‘कहाँ?’

‘जेल में! जब कुछ लोग खेल-तमाशा देखते ही हैं, तो मैं क्यों न दिखाकर माँ की दवा करूँ और अपना पेट भरूँ।’

मैंने दीर्घ निःश्वास लिया। चारों ओर बिजली के लट्टू नाच रहे थे। मन व्यग्र हो उठा। उसने कहा—‘अच्छा चलो, निशाना लगाया जाए।’

हम दोनों उस जगह पर पहुँचे, जहाँ खिलौने को गेंद से गिराया जाता था। मैंने बारह टिकट खरीदकर उस लड़के को दिये।

वह निकला पक्का निशानेबाज। उसका कोई गेंद खाली नहीं गया। देखनेवाले दंग रह गये। उसने बारह खिलौनों को बटोर लिया; लेकिन उठाता कैसे? कुछ मेरे रूमाल में बँधे, कुछ जेब में रख लिये गये।

लड़के ने कहा—‘बाबूजी, आपको तमाशा दिखाऊंगा। बाहर आइये, मैं चलता हूँ।’ वह नौ-दो ग्यारह हो गया। मैंने मन-ही-मन कहा—‘इतनी जल्दी आँख बदल गयी।’

मैं घूमकर पान की दूकान पर आ गया। पान खाकर बड़ी देर तक इधर-उधर टहलता देखता रहा। झूले के पास लोगों का ऊपर-नीचे आना देखने लगा। अकस्मात् किसी ने हिंडोले से पुकारा—‘बाबूजी!’

मैंने पूछा—‘कौन?’

‘मैं हूँ छोटा जादूगर।’

कलकत्ते के सुरम्य बोटैनिकल-उद्यान में लाल कमलिनी से भरी हुई एक छोटी-सी झील के किनारे घने वृक्षों की छाया में अपनी मण्डली के साथ बैठा हुआ मैं जलपान कर रहा था। बातें हो रही थीं। इतने में वही छोटा जादूगर दिखाई पड़ा। हाथ में चारखाने की खादी का झोला। साफ जाँघिया और आधी बाँहों का कुरता। सिर पर मेरा रूमाल सूत की रस्सी से बँधा हुआ था। मस्तानी चाल से झूमता हुआ आकर कहने लगा—

‘बाबूजी, नमस्ते! आज कहिये, तो खेल दिखाऊँ।’

'नहीं जी, अभी हम लोग जलपान कर रहे हैं।'

'फिर इसके बाद क्या गाना-बजाना होगा, बाबूजी?'

'नहीं जी—तुमको...', क्रोध से मैं कुछ और कहने जा रहा था। श्रीमती ने कहा—'दिखलाओजी, तुम तो अच्छे आये। भला, कुछ मन तो बहले।' मैं चुप हो गया; क्योंकि श्रीमती की वाणी में वह माँ की-सी मिठास थी, जिसके सामने किसी भी लड़के को रोका नहीं जा सकता। उसने खेल आरम्भ किया।

उस दिन कार्निवल के सब खिलौने उसके खेल में अपना अभिनय करने लगे। भालू मनाने लगा। बिल्ली रूठने लगी। बन्दर घुड़कने लगा।

गुड़िया का ब्याह हुआ। गुड्डा वर काना निकला। लड़के की वाचालता से ही अभिनय हो रहा था। वह हँसते-हँसते लोट-पोट हो गये।

मैं सोच रहा था। बालक को आवश्यकता ने कितना शीघ्र चतुर बना दिया। यही तो संसार है।

ताश के सब पत्ते लाल हो गये। फिर सब काले हो गये। गले की सूत की डोरी टुकड़े-टुकड़े होकर जुड़ गयी। लट्टू अपने से नाच रहे थे। मैंने कहा—'अब हो चुका। अपना खेल बटोर लो, हम लोग भी अब जाएँगे।'

श्रीमतीजी ने धीरे से रुपया दे दिया। वह उछल उठा।

मैंने कहा—'लड़के!'

'छोटा जादूगर कहिए। यही मेरा नाम है। इसी से मेरी जीविका है।'

मैं कुछ बोलना ही चाहता था कि श्रीमतीजी ने कहा—'अच्छा, तुम इस रुपये से क्या करोगे?'

'पहले भर पेट पकौड़ी खाऊँगा। फिर एक सूती कम्बल लूँगा।'

मेरा क्रोध अब लौट आया। मैं अपने पर बहुत क्रुद्ध होकर सोचने लगा—'ओह! कितना स्वार्थी हूँ मैं। उसके एक रुपया पाने पर मैं ईर्ष्या करने लगा था न!'

वह नमस्कार करके चला गया। हम लोग लता-कुंज देखने के लिए चले।

उस छोटे-से बनावटी जंगल में सन्ध्या साँय-साँय करने लगी थी। अस्ताचलगामी सूर्य की अन्तिम किरण वृक्षों की पत्तियों से विदाई ले रही थी। एक शान्त वातावरण था। हम धीरे-धीरे मोटर से हावड़ा की ओर आ रहे थे।

रह-रहकर छोटा जादूगर स्मरण होता था। सचमुच वह एक झोंपड़ी के पास कम्बल कन्धे पर डाले खड़ा था! मैंने मोटर रोककर उससे पूछा—'तुम यहाँ कहाँ?'

'मेरी माँ यहीं है न। अब उसे अस्पताल वालों ने निकाल दिया है।' मैं उतर गया। उस झोपड़ी में देखा, तो एक स्त्री चिथड़ों से लदी हुई काँप रही थी।

छोटे जादूगर ने कम्बल ऊपर से डालकर उसके शरीर से चिमटते हुए कहा—'माँ।'

मेरी आँखों से आँसू निकल पड़े।

बड़े दिन की छुट्टी बीत चली थीं। मुझे अपने ऑफिस में समय से पहुँचना था। कलकत्ते से मन ऊब गया था। फिर भी चलते-चलते एक बार उस उद्यान को देखने की इच्छा हुई। साथ-ही-साथ जादूगर भी दिखाई पड़ जाता, तो और भी...मैं उस दिन अकेले ही चल पड़ा। जल्द लौट आना था।

दस बज चुके थे। मैंने देखा कि उस निर्मल धूप में सड़क के किनारे एक कपड़े पर छोटे जादूगर का रंगमंच सजा था। मोटर रोककर उतर पड़ा। वहाँ बिल्ली रूठ रही थी। भालू मनाने चला था। ब्याह की तैयारी थी; यह सब होते हुए भी जादूगर की वाणी में वह प्रसन्नता की तरी नहीं थी। जब वह औरों को हँसाने की चेष्टा कर रहा था, तब जैसे स्वयं काँप जाता था। मानो उसके रोएँ रो रहे थे। मैं आश्चर्य से देख रहा था। खेल हो जाने पर पैसा बटोरकर उसने भीड़ में मुझे देखा। वह जैसे क्षण-भर के लिए स्फूर्तिमान हो गया। मैंने उसकी पीठ थपथपाते हुए पूछा—'आज तुम्हारा खेल जमा क्यों नहीं?'

'माँ ने कहा है कि आज तुरन्त चले आना। मेरी घड़ी समीप है।'—अविचल भाव से उसने कहा।

'तब भी तुम खेल दिखलाने चले आये।' मैंने कुछ क्रोध से कहा। मनुष्य के सुख-दुःख का माप अपना ही साधन तो है। उसी के अनुपात से वह तुलना करता है।

उसके मुँह पर वही परिचित तिरस्कार की रेखा फूट पड़ी।

उसने कहा—'क्यों न आता!'

और कुछ अधिक कहने में जैसे वह अपमान का अनुभव कर रहा था।

क्षण-भर में मुझे अपनी भूल मालूम हो गयी। उसके झोले को गाड़ी में फेंककर उसे भी बैठाते हुए मैंने कहा—'जल्द चलो।' मोटरवाला मेरे बताये हुए पथ पर चल पड़ा।

कुछ ही मिनटों में मैं झोंपड़ी के पास पहुँचा। जादूगर दौड़कर झोंपड़े में माँ-माँ पुकारते हुए घुसा। मैं भी पीछे था; किन्तु स्त्री के मुँह से, 'बे...' निकलकर रह गया। उसके दुर्बल हाथ उठकर गिर गये। जादूगर उससे लिपटा रो रहा था; मैं स्तब्ध था। उस उज्ज्वल धूप में समग्र संसार जैसे जादू-सा मेरे चारों ओर नृत्य करने लगा।

अनबोला

उसके जाल में सीपियाँ उलझ गयी थीं। जग्गैया से उसने कहा—'इसे फैलाती हूँ, तू सुलझा दे।'

जग्गैया ने कहा—'मैं क्या तेरा नौकर हूँ?'

कामैया ने तिनककर अपने खेलने का छोटा-सा जाल और भी बटोर लिया। समुद्र-तट के छोटे-से होटल के पास की गली से अपनी झोंपड़ी की ओर चली गयी।

जग्गैया उस अनखाने का सुख लेता-सा गुनगुनाकर गाता हुआ, अपनी खजूर की टोपी और भी तिरछी करके, सन्ध्या की शीतल बालुका को पैरों से उछालने लगा।

दूसरे दिन, जब समुद्र में स्नान करने के लिए यात्री लोग आ गये थे; सिन्दूर-पिण्ड-सा सूर्य समुद्र के नील जल में स्नान कर प्राची के आकाश के ऊपर उठ रहा था; तब कामैया अपने पिता के साथ धीवरों के झुण्ड में खड़ी थी; उसके पिता की नावें समुद्र की लहरों पर उछल रही थीं। महाजाल पड़ा था, उसे बहुत-से धीवर मिलकर खींच रहे थे। जग्गैया ने आकर कामैया की पीठ में उँगली गोद दी। कामैया कुछ खिसककर दूर जा खड़ी हुई। उसने जग्गैया की ओर देखा भी नहीं।

जग्गैया की केवल माँ थी, वह कामैया के पिता के यहाँ लगी-लिपटी रहती, अपना पेट पालती थी। वह बैंत की दौरी लिए वहीं खड़ी थी। कामैया की मछलियाँ ले जाकर बाजार में बेचना उसी का काम था।

जग्गैया नटखट था। वह अपनी माँ को वहीं देखकर और भी हट गया; किन्तु कामैया की ओर देखकर उसने मन-ही-मन कहा—अच्छा।

महाजाल खींचकर लाया गया। कुछ तो मछलियाँ थीं ही; पर उसमें एक भीषण समुद्री बाघ भी था। दर्शकों के झुण्ड जुट पड़े। कामैया के पिता से कहा गया उसे जाल में से निकालने के लिए, जिससे प्रकृति की उस भीषण कारीगरी को लोग भलीभाँति देख सकें।

लोभ संवरण न करके उसने समुद्री बाघ को जाल से निकाला। एक खूँटे से उसकी पूँछ बाँध दी गयी। जग्गैया की माँ अपना काम करने की धुन में जाल में मछलियाँ पकड़कर दौरी में रख रही थी। समुद्री बाघ बालू की विस्तृत बेला में एक बार उछला। जग्गैया की माता का हाथ उसके मुँह में चला गया। कोलाहल मचा; पर बेकार! बेचारी का हाथ वह चबा गया।

दर्शक लोग चले गये। जग्गैया अपनी मूर्छित माता को उठाकर झोंपड़ी में जब ले चला, तब उसके मन में कामैया के पिता पर असीम क्रोध और दर्शकों के लिए प्रतिहिंसा उद्वेलित हो रही थी। कामैया की आँखों से आँसू बह रहे थे। तब भी वह बोली नहीं।

कई सप्ताह से महाजाल में मछलियाँ नहीं के बराबर फँस रही थीं। चावलों की बोझाई तो बन्द थी ही, नावें बेकार पड़ी रहती थीं। मछलियों का व्यवसाय चल रहा था; वह भी डावाँडोल हो रहा था। किसी देवता की अकृपा है क्या?

कामैया के पिता ने रात को पूजा की। बालू की वेदियों के पास खजूर की डालियाँ गड़ी थीं। समुद्री बाघ के दाँत भी बिखरे थे। बोतलों में मदिरा भी पुजारियों के समीप प्रस्तुत थी। रात में समुद्र-देवता की पूजा आरम्भ हुई।

जग्गैया दूर, जहाँ तक समुद्र की लहरें आकर लौट जाती हैं, वहीं बैठा हुआ चुपचाप अनन्त जलराशि की ओर देख रहा था और मन में सोच रहा था—क्यों मेरे पास एक नाव न रही? मैं कितनी मछलियाँ पकड़ता; आह! फिर मेरी माता को इतना कष्ट क्यों होता। अरे! वह तो मर रही है; मेरे लिए इसी अँधकार-सा दारिद्र्य छोड़कर! तब भी देखें, भाग्य-देवता क्या करते हैं। इसी सगैया की मजदूरी करने से तो वह मर रही है।

उसके क्रोध का उद्वेग समुद्र-सा गर्जन करने लगा।

पूजा समाप्त करके मदिरारुण नेत्रों से घूरते हुए पुजारी ने कहा—‘रग्गैया! अपना भला चाहते हो, तो जग्गैया के कुटुम्ब से कोई सम्बन्ध न रखना। समझा न?’

उधर जग्गैया का क्रोध अपनी सीमा पार कर रहा था। उसकी इच्छा होती थी कि रग्गैया का गला घोंट दे, किन्तु वह निर्बल बालक। उसके सामने से जैसे लहरें लौट जाती थीं, उसी तरह उसका क्रोध मूर्छित होकर गिरता-सा प्रत्यावर्तन करने लगा। वह दूर-ही-दूर अँधकार में झोंपड़ी की ओर लौट रहा था।

सहसा किसी का कठोर हाथ उसके कन्धे पर पड़ा। उसने चौंककर कहा— ‘कौन?’

मदिरा-विह्वल कण्ठ से रग्गैया ने कहा—‘तुम मेरे घर कल से न आना।’

जग्गैया वहीं बैठ गया। वह फूट-फूटकर रोना चाहता था; परन्तु अँधकार उसका गला घोंट रहा था। दारुण क्षोभ और निराशा उसके क्रोध को उत्तेजित करती रही। उसे अपनी माता के तत्काल न मर जाने पर झुँझलाहट-सी हो रही थी। समीर अधिक हो चला। प्राची का आकाश स्पष्ट होने लगा; पर जग्गैया का अदृष्ट तमसाच्छन्न था।

कामैया ने धीरे-धीरे आकर जग्गैया की पीठ पर हाथ रख दिया। उसने घूमकर देखा। कामैया की आँखों में आँसू भरे थे। दोनों चुप थे।

कामैया की माता ने पुकारकर कहा—'जग्गैया! तेरी माँ मर गयी। इसको अब ले जा।'

जग्गैया धीरे-धीरे उठा और अपनी माता के शव के पास खड़ा हो गया। अब उसके मुख पर हर्ष-विषाद, सुख-दुःख कुछ भी नहीं था। उससे कोई बोलता न था और वह भी किसी से बोलना नहीं चाहता था; किन्तु कामैया भीतर-ही-भीतर फूट-फूटकर रो रही थी; पर वह बोले कैसे? उससे तो अनबोला था न!

अमित स्मृति

फाल्गुनी पूर्णिमा का चंद्र गंगा के शुभ्र वक्ष पर आलोक-धारा का सृजन कर रहा था। एक छोटा-सा बजरा वसन्त-पवन में आन्दोलित होता हुआ धीरे-धीरे बह रहा था। नगर का आनन्द-कोलाहल सैंकड़ों गलियों को पार करके गंगा के मुक्त वातावरण में सुनाई पड़ रहा था। मनोहरदास हाथ-मुँह धोकर तकिए के सहारे बैठ चुके थे। गोपाल ने ब्यालू करके उठते हुए पूछा—

बाबूजी, सितार ले आऊँ?

आज और कल, दो दिन नहीं।—मनोहरदास ने कहा।

वाह बाबूजी, आज सितार न बजा तो फिर बात क्या रही!

नहीं गोपाल, मैं होली के इन दोनों दिनों में न तो सितार ही बजाता हूँ और न तो नगर में ही जाता हूँ।

तो क्या आप चलेंगे भी नहीं, त्योहार के दिन नाव पर ही बीतेंगे, यह तो बड़ी बुरी बात है।

यद्यपि गोपाल बरस-बरस का त्योहार मनाने के लिए साधारणत: युवकों की तरह उत्कंठित था; परन्तु सत्तर बरस के बूढ़े मनोहरदास को स्वयं बूढ़ा कहने का साहस नहीं रखता। मनोहरदास का भरा हुआ मुँह, दृढ़ अवयव और बलिष्ठ अंग-विन्यास गोपाल के यौवन से अधिक पूर्ण था। मनोहरदास ने कहा—गोपाल! मैं गन्दी गालियों या रंग से भागता हूँ। इतनी ही बात नहीं, इसमें और भी कुछ है। होली इसी तरह बिताते मुझे पचास बरस हो गए।

गोपाल ने नगर में जाकर उत्सव देखने का कुतूहल दबाते हुए पूछा—ऐसा क्यों बाबूजी?

ऊँचे तकिए पर चित्त लेटकर लम्बी साँस लेते हुए मनोहरदास ने कहना आरम्भ किया—

हम और तुम्हारे बड़े भाई गिरधरदास साथ-ही-साथ जवाहरात का व्यवसाय करते थे। इस साझे का हाल तुम जानते ही हो। हाँ, तब बम्बई की दुकान न थी और न तो आज-जैसी रेलगाड़ियों का जाल भारत में बिछा हुआ था; इसलिए रथों और इक्कों पर भी लोग लम्बी-लम्बी यात्राएँ करते। विशाल सफेद अजगर-सी पड़ी हुई उत्तरी भारत की वह सड़क, जो बंगाल से काबुल तक पहुँचती है, सदैव पथिकों से भरी रहती थी। कहीं-कहीं बीच में दो-चार कोस की निर्जनता मिलती, अन्यथा प्याऊ, बनियों की दुकानें पड़ाव और सरायों से भरी हुई इस सड़क पर बड़ी चहल-पहल रहती। यात्रा के लिए प्रत्येक स्थान में घंटे में दस कोस जानेवाले इक्के तो बहुतायत से मिलते। बनारस इसमें विख्यात था।

हम और गिरधरदास होलिकादाह का उत्सव देखकर दस बजे लौटे थे कि प्रयाग के एक व्यापारी का पत्र मिला। इसमें लाखों के माल बिक जाने की आशा थी और कल तक ही वह व्यापारी प्रयाग में ठहरेगा। उसी समय इक्केवान को बुलाकर सहेज दिया और हम लोग ग्यारह बजे सो गए। सूर्य की किरणें अभी न निकली थीं; दक्षिण पवन से पत्तियाँ अभी जैसे झूम रही थीं, परन्तु हम लोग इक्के पर बैठकर नगर को कई कोस पीछे छोड़ चुके थे। इक्का बड़े वेग से जा रहा था। सड़क के दोनों ओर लगे हुए आम की मंजरियों की सुगन्ध तीव्रता से नाक में घुसकर मादकता उत्पन्न कर रही थी। इक्केवान की बगल में बैठे हुए रघुनाथ महाराज ने कहा—सरकार बड़ी ठंड है।

कहना न होगा कि रघुनाथ महाराज बनारस के एक नामी लठैत थे। उन दिनों ऐसी यात्राओं में ऐसे मनुष्यों को रखना आवश्यक समझा जाता था।

सूर्य बहुत ऊपर आ चुके थे, मुझे प्यास लगी थी। तुम तो जानते ही हो, मैं दोनों बेला बूटी छानता हूँ। आमों की छाया में एक छोटा-सा कुआँ दिखाई पड़ा, जिसके ऊपर मुरेरेदार पक्की छत थी और नीचे चारों ओर दालानें थीं। मैंने इक्का रोक देने को कहा। पूरब वाले दालान में एक बनिए की दुकान थी, जिस पर गुड़, चना, नमक, सत्तू आदि बिकते थे। मेरे झोले में अब आवश्यक सामान थे। सीढ़ियों से चढ़कर हम लोग ऊपर पहुँचे। सराय यहाँ से दो कोस और गाँव कोस-भर पर था। इस रमणीय स्थान को देखकर विश्राम करने की इच्छा होती थी। अनेक पक्षियों की मधुर बोलियों से मिलकर पवन जैसे सुरीला हो उठा। ठंडई बनने लगी। पास ही एक नींबू का वृक्ष खूब फूला हुआ था। रघुनाथ ने बनिए से हाँड़ी लेकर कुछ फूलों को भिगो दिया। ठंडई तैयार होते-होते उसकी महक से मन मस्त हो गया। चाँदी के गिलास झोली से बाहर निकाले गए; पर रघुनाथ ने कहा—सरकार, इसकी बहार तो पुरवे में है। बनिये को पुकारा। वह तो था नहीं, एक धीमा स्वर सुनाई पड़ा—क्या चाहिए?

पुरवे दे जाओ!

थोड़ी ही देर में एक चौदह वर्ष की लड़की सीढ़ियों से ऊपर आती हुई नजर पड़ी। सचमुच वह सालू की छींट पहने एक देहाती लड़की थी, कल उसकी भाभी ने उसके साथ खूब गुलाल खेला था, वह जगी भी मालूम पड़ती थी।—मदिरा-मन्दिर के द्वार-सी खुली हुई आँखों में गुलाब की गरद उड़ रही थी। पलकों के छज्जे और बरौनियों की चिकों पर भी गुलाल की बहार थी। सरके हुए घूँघट से जितनी अलकें दिखलाई पड़तीं, वे सब रँगी थीं।

भीतर से भी उस सरला को कोई रंगीन बनाने लगा था। न जाने क्यों, क्या इस छोटी अवस्था में ही वह चेतना से ओत-प्रोत थी। ऐसा मालूम होता था कि स्पर्श का मनोविकारमय अनुभव उसे सचेष्ट बनाए रहता, तब भी उसकी आँखें धोखा खाने ही पर ऊपर उठतीं। पुरवा रखने ही भर में उसने अपने कपड़ों को दो-तीन बार ठीक किया, फिर पूछा—और कुछ चाहिए? मैं मुस्कराकर रह गया। उसे वसंत के प्रभाव में सब लोग वह सुस्वादु और सुगंधित ठंडई धीरे-धीरे पी रहे थे और मैं साथ-ही-साथ अपनी आँखों से उस बालिका के यौनोन्माद की माधुरी भी पी रहा था। चारों ओर से नींबू के फूल और आमों की मंजरियों की सुगन्ध आ रही थी। नगरों से दूर देहातों से अलग कुएँ की वह छत संसार में जैसे सबसे ऊँचा स्थान था। क्षण-भर के लिए जैसे उस स्वप्न-लोक में एक अप्सरा आ गई हो। सड़क पर एक बैलगाड़ी-वाला बंडलों से टिका हुआ आँखें बन्द किए हुए बिरहा गाता था। बैलों को हाँकने की जरूरत नहीं थी। वह अपनी राह पहचानते थे। उसके गाने में उपालम्भ था, आवेदन था। बालिका कमर पर हाथ रखे हुए बड़े ध्यान से उसे सुन रही थी। गिरधरदास और रघुनाथ महाराज हाथ-मुँह धो आए; पर मैं वैसे ही बैठा रहा। रघुनाथ महाराज उजड्ड तो थे ही; उन्होंने हँसते हुए पूछा—क्या दाम नहीं मिला?

गिरधरदास भी हँस पड़े। गुलाब से रँगी हुई उस बालिका की कनपटी और भी लाल हो गई। वह जैसे सचेत-सी होकर धीरे-धीरे सीढ़ी से उतरने लगी। मैं भी जैसे तन्द्रा से चौंक उठा और सावधान होकर पान की गिलौरी मुँह में रखता हुआ इक्के पर आ बैठा। घोड़ा अपनी चाल से चला। घंटे-डेढ़ घंटे में हम लोग प्रयाग पहुँच गए। दूसरे दिन जब हम लोग लौटे, तो देखा कि उस कुएँ के दालान में बनिए की दुकान नहीं है। एक मनुष्य पानी पी रहा था, उससे पूछने पर मालूम हुआ कि गाँव में एक भारी दुर्घटना हो गई है। दोपहर को धुरहट्टा खेलने के समय नशे में रहने के कारण कुछ लोगों में दंगा हो गया। वह बनिया भी उन्हीं में था। रात को उसी के मकान पर डाका पड़ा। वह तो मार ही डाला गया, पर उसकी लड़की का भी पता नहीं।

रघुनाथ ने अक्खड़पन से कहा—अरे, वह महालक्ष्मी ऐसी ही रहीं। उनके लिए जो कुछ न हो जाय, थोड़ा है।

रघुनाथ की यह बात मुझे बहुत बुरी लगी। मेरी आँखों के सामने चारों ओर जैसे होली जलने लगी। ठीक साल-भर बाद वही व्यापारी प्रयाग आया और मुझे फिर उसी प्रकार जाना पड़ा। होली बीत चुकी थी, जब मैं प्रयाग से लौट रहा था, उसी कुएँ पर ठहरना पड़ा। देखा तो एक विकलांग दरिद्र युवती उसी दालान में पड़ी थी। उसका चलना-फिरना असम्भव था। जब मैं कुएँ पर चढ़ने लगा तो उसने दाँत निकालकर हाथ फैला दिया। मैं पहचान गया—साल-भर की घटना सामने आ गई। न जाने उस दिन मैं प्रतिज्ञा कर बैठा कि आज से होली न खेलूँगा।

वह पचास बरस की बीती हुई घटना आज भी प्रत्येक होली में नई होकर सामने आती है। तुम्हारे बड़े भाई गिरधर ने मुझे कई बार होली मनाने का अनुरोध किया, पर मैं उनसे सहमत न हो सका और मैं अपने हृदय के इस निर्बल पक्ष पर अभी तक दृढ़ हूँ। समझा न, गोपाल! इसलिए मैं ये दो दिन बनारस के कोलाहल से अलग नाव पर ही बिताता हूँ।

विराम-चिह्न

देव-मन्दिर के सिंहद्वार से कुछ दूर हटकर वह छोटी-सी दुकान थी। सुपारी के घने कुंज के नीचे एक मैले कपड़े के टुकड़े पर सूखी हुई धार में तीन-चार केले, चार कच्चे पपीते, दो हरे नारियल और छ: अण्डे थे। मन्दिर से दर्शन करके लौटते हुए भक्त लोग दोनों पट्टी में सजी हुई हरी-भरी दुकानों को देखकर उसकी ओर ध्यान देने की आवश्यकता ही नहीं समझते थे।

अर्द्ध-नग्न वृद्धा दुकानवाली भी किसी को अपनी वस्तु के लिए नहीं बुलाती थी। वह चुपचाप अपने केलों और पपीतों को देख लेती। मध्याह्न बीत चला। उसकी कोई वस्तु न बिकी। मुँह की ही नहीं, उसके शरीर पर की भी झुर्रियाँ रूखी होकर ऐंठी जा रही थीं। मूल्य देकर भात-दाल की हाँडियाँ लिये लोग चले जा रहे थे। मन्दिर में भगवान के विश्राम का समय हो गया था। उन हाँडियों को देखकर उसकी भूखी आँखों में लालच की चमक बढ़ी, किन्तु पैसे कहाँ थे? आज तीसरा दिन था, उसे दो-एक केले खाकर बिताते हुए। उसने एक बार भूख से भगवान की भेंट कराकर क्षणभर के लिए विश्राम पाया; किन्तु भूख की वह पतली लहर अभी दबाने में पूरी तरह समर्थ न हो सकी थी कि राधे आकर उसे गुरेरने लगा। उसने भरपेट ताड़ी पी ली थी। आँखें लाल, मुँह से बात करने में झाग निकल रहा था। हाथ नचाकर वह कहने लगा—

‘सब लोग जाकर खा-पीकर सो रहे हैं। तू यहाँ बैठी हुई देवता का दर्शन कर रही है। अच्छा, तो आज भी कुछ खाने को नहीं?’

‘बेटा! एक पैसे का भी नहीं बिका, क्या करूँ? अरे, तो भी तू कितनी ताड़ी पी आया है।’

‘वह सामने तेरे ठाकुर दिखाई पड़ रहे हैं। तू भी पीकर देख न!’

उस समय सिंहद्वार के सामने की विस्तृत भूमि निर्जन हो रही थी। केवल जलती हुई धूप उस पर किलोल कर रही थी। बाजार बन्द था। राधे ने देखा, दो-चार कौए काँव-काँव

करते हुए सामने नारियल-कुंज की हरियाली में घुस रहे थे। उसे अपना ताड़ीखाना स्मरण हो आया। उसने अण्डों को बटोर लिया।

बुढ़िया 'हाँ, हाँ' करती ही रह गयी, वह चला गया। दुकानवाली ने अँगूठे और तर्जनी से दोनों आँखों का कीचड़ साफ किया और फिर मिट्टी के पात्र से जल लेकर मुँह धोया।

बहुत सोच-विचारकर अधिक उतरा हुआ एक केला उसने छीलकर अपनी अंजलि में रख उसे मन्दिर की ओर नैवेद्य लगाने के लिए बढ़ाकर आँखें बन्द कर लीं। भगवान ने उस अछूत का नैवेद्य ग्रहण किया या नहीं, कौन जाने; किन्तु बुढ़िया ने उसे प्रसाद समझकर ही ग्रहण किया।

अपनी दुकान झोली में समेटे हुए, जिस कुंज में कौए घुसे थे, उसी में वह भी घुसी। पुआल से छायी हुई टट्टरों की झोंपड़ी में विश्राम किया।

उसकी स्थावर सम्पत्ति में वही नारियल का कुंज, चार पेड़ पपीते और छोटी-सी पोखरी के किनारे पर के कुछ केले के वृक्ष थे। उसकी पोखरी में छोटा-सा झुण्ड बत्तखों का भी था, जो अण्डे देकर बुढ़िया की आय में वृद्धि करता। राधे अत्यन्त मद्यप था। उसकी स्त्री ने उसे बहुत दिन हुए छोड़ दिया था।

बुढ़िया को भगवान का भरोसा था, उसी देव-मन्दिर के भगवान का, जिसमें वह कभी नहीं जाने पायी थी!

अभी वह विश्राम की झपकी ही लेती थी कि महन्त के जमादार कुंज ने कड़े स्वर में पुकारा—'राधे, अरे रधवा, बोलता क्यों नहीं रे!'

बुढ़िया ने आकर हाथ जोड़ते हुए कहा—'क्या है महाराज?'

'सुना है कि कल तेरा लड़का कुछ अछूतों के साथ मन्दिर में घुसकर दर्शन करने जाएगा?'

'नहीं, नहीं, कौन कहता है महाराज! वह शराबी, भला मन्दिर में उसे कब से भक्ति हुई है?'

'नहीं, मैं तुझसे कहे देता हूँ, अपनी खोपड़ी सँभालकर रखने के लिए उसे समझा देना। नहीं तो तेरी और उसकी; दोनों की दुर्दशा हो जाएगी।'

राधे ने पीछे से आते हुए क्रूर स्वर में कहा—'जाऊँगा, वह क्या तेरे बाप के भगवान हैं। तू होता कौन है रे!'

'अरे, चुप रे राधे! ऐसा भी कोई कहता है रे! अरे, तू जायेगा, मन्दिर में? भगवान का कोप कैसे रोकेगा रे?' बुढ़िया गिड़गिड़ाकर कहने लगी। कुंजबिहारी जमादार ने राधे की लाठी देखते ही ढीली बोल दी। उसने कहा—'जाना राधे कल, देखा जायेगा।'—जमादार धीरे-धीरे खिसकने लगा।

'अकेले-अकेले बैठकर भोग-प्रसाद खाते-खाते बच्चू लोगों को चरबी चढ़ गई है। दरशन नहीं रे—तेरा भात छीनकर खाऊँगा। देखूँगा, कौन रोकता है।'—राधे गुर्राने लगा।

कुंज तो चला गया, बुढ़िया ने कहा—'राधे बेटा, आज तक तूने कौन-से अच्छे काम किये हैं, जिनके बल पर मन्दिर में जाने का साहस करता है? ना बेटा, यह काम कभी मत करना। अरे ऐसा भी कोई करता है!'

'तूने भात बनाया है आज?'

'नहीं बेटा! आज तीन दिन से पैसे नहीं मिले। चावल है नहीं।'

'इन मन्दिरवालों ने अपनी जूठन भी तुझे दी?'

'मैं क्यों लेती, उन्होंने दी भी नहीं।'

'तब भी तू कहती है कि मन्दिर में हम लोग न जाएँ! जाएँगे; सब अछूत जाएँगे।'

'न बेटा! किसी ने तुमको बहका दिया है। भगवान के पवित्र मन्दिर में हम लोग आज तक कभी नहीं गये। वहाँ जाने के लिए तपस्या करनी चाहिए।'

'हम लोग तो जाएँगे।'

'ना, ऐसा कभी न होगा।'

'होगा, फिर होगा। जाता हूँ ताड़ीखाने, वहीं पर सबकी राय से कल क्या होगा; यह देखना।'—राधे ऐंठता हुआ चला गया। बुढ़िया एकटक मन्दिर की ओर विचारने लगी—'भगवान, क्या होनेवाला है!'

दूसरे दिन मन्दिर के द्वार पर भारी जमघट था। आस्तिक भक्तों का झुण्ड अपवित्रता से भगवान की रक्षा करने के लिए दृढ़ होकर खड़ा था। उधर सैकड़ों अछूतों के साथ राधे मन्दिर में प्रवेश करने के लिए तत्पर था।

लट्ठ चले, सिर फूटे। राधे आगे बढ़ ही रहा था कि कुंजबिहारी ने बगल से घूमकर राधे के सिर पर करारी चोट दी। वह लहू से लथपथ वहीं लोटने लगा। प्रवेशार्थी भागे। उनका सरदार गिर गया था। पुलिस भी पहुँच गयी थी। राधे के अन्तरंग मित्र गिनती में 10-12 थे। वे ही रह गये।

क्षणभर के लिए वहाँ शिथिलता छा गयी थी। सहसा बुढ़िया भीड़ चीरकर वहीं पहुँच गई। उसने राधे को रक्त में सना हुआ देखा। उसकी आँखें लहू से भर गयीं। उसने कहा—'राधे की लोथ मन्दिर में जाएगी।' वह अपने निर्बल हाथों से राधे को उठाने लगी।

उसके साथी बढ़े। मन्दिर का दल भी हुँकारने लगा; किन्तु बुढ़िया की आँखों के सामने ठहरने का किसी को साहस न रहा। वह आगे बढ़ी; पर सिंहद्वार की दहलीज पर जाकर सहसा रुक गई। उसकी आँखों की पुतली में जो मूर्तिभंजक छाया-चित्र था, वही गलकर बहने लगा।

राधे का शव दहलीज के समीप रख दिया। बुढ़िया ने दहलीज पर सिर झुकाया, पर वह सिर उठा न सकी। मन्दिर में घुसनेवाले अछूतों के आगे बुढ़िया विराम-चिह्न-सी पड़ी थी।

व्रत-भंग

तो तुम न मानोगे?

नहीं, अब हम लोगों के बीच इतनी बड़ी खाई है, जो कदापि नहीं पट सकती!

इतने दिनों का स्नेह?

उँह! कुछ भी नहीं। उस दिन की बात आजीवन भुलाई नहीं जा सकती, नंदन! अब मेरे लिए तुम्हारा और तुम्हारे लिए मेरा कोई अस्तित्व नहीं। वह अतीत के स्मरण, स्वप्न हैं, समझे?

यदि न्याय नहीं कर सकते, तो दया करो, मित्र! हम लोग गुरुकुल में...

हाँ-हाँ, मैं जानता हूँ, तुम मुझे दरिद्र युवक समझकर मेरे ऊपर कृपा रखते थे, किन्तु उसमें कितना तीक्ष्ण अपमान था, उसका मुझे अब अनुभव हुआ।

उस ब्रह्म-बेला में जब उषा का अरुण आलोक भागीरथी की लहरों के साथ तरल होता रहता, हम लोग कितने अनुराग से जाते थे। सच कहना, क्या वैसी मधुरिमा हम लोगों के स्वच्छ हृदयों में न थी?

रही होगी, पर अब, उस मर्मघाती अपमान के बाद! मैं खड़ा रह गया, तुम स्वर्ण-रथ पर चढ़कर चले गए; एक बार भी नहीं पूछा। तुम कदाचित् जानते होगे नंदन कि कंगाल के मन में प्रलोभनों के प्रति कितना विद्वेष है? क्योंकि वह उससे सदैव छल करता है, ठुकराता है। मैं अपनी उस बात को दुहराता हूँ कि हम लोगों का अब उस रूप में कोई अस्तित्व नहीं।

वही सही कपिञ्जल! हम लोगों का पूर्व अस्तित्व कुछ नहीं, तो क्या हम लोग वैसे ही निर्मल होकर एक नवीन मैत्री के लिए हाथ नहीं बढ़ा सकते? मैं आज प्रार्थी हूँ

मैं उस प्रार्थना की उपेक्षा करता हूँ। तुम्हारे पास ऐश्वर्य का दर्प है, तो अकिञ्चनता उससे कहीं अधिक गर्व रखती है।

तुम बहुत कटु हो गए हो इस समय। अच्छा, फिर कभी...

न अभी, न फिर कभी। मैं दरिद्रता को भी दिखला दूँगा कि मैं क्या हूँ। इस पाखण्ड-

संसार में भूखा रहूँगा, परन्तु किसी के सामने सिर न झुकाऊँगा। हो सकेगा तो संसार को बाध्य करूँगा झुकने के लिए।

कपिञ्जल चला गया। नंदन हत्‌बुद्धि होकर लौट आया। उस रात को उसे नींद न आई।

उक्त घटना को बरसों बीत गए। पाटलीपुत्र के धनकुबेर कलश का कुमार नंदन धीरे-धीरे उस घटना को भूल चला। ऐश्वर्य का मदिरा-विलास किसे स्थिर रहने देता है! उसने यौवन के संसार में बड़ी-बड़ी आशाएँ लेकर पदार्पण किया था। नंदन तब भी मित्र से वञ्चित होकर जीवन को अधिक चतुर न बना सका।

राधा, तू भी कैसी पगली है? तूने कलश की पुत्र-वधू बनने का निश्चय किया है, आश्चर्य!

हाँ महादेवी, जब गुरुजनों की आज्ञा है, तब उसे तो मानना ही पड़ेगा।

मैं रोक सकती हूँ। मूर्ख नंदन! कितना असंगत चुनाव है! राधा, मुझे दया आती है।

किसी अन्य प्रकार से गुरुजनों की इच्छा को टाल देना, यह मेरी धारणा के प्रतिकूल है महादेवी! नंदन की मूर्खता सरलता का सत्यरूप है। मुझे वह अरुचिकर नहीं। मैं उस निर्मल-हृदय की देख-रेख कर सकूं, तो यह मेरे मनोरंजन का ही विषय होगा।

मगध की महादेवी ने हँसी से कुमारी के इस साहस का अभिनन्दन करते हुए कहा—तेरी जैसी इच्छा, तू स्वयं भोगेगी।

माधवी-कुंज से वह विरक्त होकर उठ गई। उन्हें राधा पर कन्या के समान ही स्नेह था।

दिन स्थिर हो चुका था। स्वयं मगध-नरेश की उपस्थिति में महाश्रेष्ठि धनञ्जय की कन्या का ब्याह कलश के पुत्र से हो गया, अद्‌भुत वह समारोह था। रत्नों के आभूषण तथा स्वर्ण-पात्रों के अतिरिक्त मगध-सम्राट ने राधा की प्रिय वस्तु अमूल्य-मणि-निर्मित दीपाधार भी दहेज में दे दिया। उस उत्सव की बड़ाई, पान-भोजन आमोद का विभवशाली चारु चयन कुसुमपुर के नागरिकों को बहुत दिन तक गल्प करने का एक प्रधान उपकरण था।

राधा कलश की पुत्र-वधू हुई।

राधा के नवीन उपवन के सौध-मन्दिर में अगरु, कस्तूरी और केशर की चहल-पहल, पुष्प-मालाओं का दोनों सन्ध्या में नवीन आयोजन और दीपावली में वीणा, वंशी और मृदंग की स्निग्ध गम्भीर ध्वनि बिखरती रहती। नंदन अपने सुकोमल आसन पर लेटा हुआ राधा का अनिंद्य सौन्दर्य एकटक चुपचाप देखा करता। उस सुसज्जित कोष्ठ में मणि-निर्मित दीपाधार की यन्त्रमयी नर्तकी अपने नूपुरों की झंकार से नंदन और राधा के लिए एक क्रीड़ा और कुतूहल का सृजन करती रहती। नंदन कभी राधा के खिसकते हुए उत्तरीय को सँभाल देता। राधा हँसकर कहती—बड़ा कष्ट हुआ।

नंदन कहता—देखो, तुम अपने प्रसाधन ही में पसीने-पसीने हो जाती हो, तुम्हें विश्राम की आवश्यकता है।

राधा गर्व से मुस्करा देती। कितना सुहाग था उसका अपने सरल पति पर और कितना अभिमान था अपने विश्वास पर! एक सुखमय स्वप्न चल रहा था।

कलश—धन का उपासक सेठ अपनी विभूति के लिए सदैव सशंक रहता। उसे राजकीय संरक्षण तो था ही, दैवी रक्षा से भी अपने को सम्पन्न रखना चाहता था। इस कारण उसे एक नंगे साधु पर अत्यन्त भक्ति थी, जो कुछ ही दिनों से उस नगर के उपकण्ठ में आकर रहने लगा था।

उसने एक दिन कहा—सब लोग दर्शन करने चलेंगे।

उपहार के थाल प्रस्तुत होने लगे। दिव्य रथों पर बैठकर सब साधु-दर्शन के लिए चले। वह भागीरथी-तट का एक कानन था, जहाँ कलश का बनवाया हुआ कुटीर था।

सब लोग अनुचरों के साथ रथ छोड़कर भक्तिपूर्ण हृदय से साधु के समीप पहुँचे, परन्तु राधा ने जब दूर ही से देखा कि वह साधु नग्न है, तो वह रथ की ओर लौट पड़ी। कलश ने बुलाया; पर राधा न आई। नंदन कभी राधा को देखता और कभी अपने पिता को। साधु खीलों के समान फूट पड़ा। दाँत किटकिटा कर उसने कहा—यह तुम्हारी पुत्र-वधू कुलक्षणा है, कलश! तुम इसे हटा दो, नहीं तो तुम्हारा नाश निश्चित है। नंदन दाँतों तले जीभ दबाकर धीरे से बोला—अरे! यह कपिंजल...

अनागत भविष्य के लिए भयभीत कलश क्षुब्ध हो उठा। वह साधु की पूजा करके लौट आया। राधा अपने नवीन उपवन में उतरी।

कलश ने पूछा—तुमने महापुरुष से क्यों इतना दुर्विनीत व्यवहार किया? नहीं पिताजी! वह स्वयं दुर्विनीत है। जो स्त्रियों को आते देखकर भी साधारण शिष्टाचार का पालन नहीं करता, वह धार्मिक महात्मा तो कदापि नहीं।

क्या कह रही है! वे एक सिद्ध पुरुष हैं।

सिद्धि यदि इतनी अधम है, धर्म यदि इतना निर्लज्ज है, तो वह स्त्रियों के योग्य नहीं, पिताजी! धर्म के रूप में कहीं आप भय की उपासना तो नहीं कर रहे हैं?

तू सचमुच कुलक्षणा है!

इसे तो अंतर्यामी भगवान ही जान सकते हैं। मनुष्य इसके लिए अत्यन्त क्षुद्र है। पिताजी, आप...

उसे रोककर अत्यन्त क्रोध से कलश ने कहा—तुझे इस घर में रखना अलक्ष्मी को बुलाना है। जा, मेरे भवन से निकल जा।

नंदन सुन रहा था। काठ के पुतले के समान! वह इस विचार का अन्त तो चाहता था; पर क्या करे, यह उसकी समझ में न आया। राधा ने देखा, उसका पति कुछ नहीं बोलता, तो अपने गर्व से सिर उठाकर कहा—मैं धनकुबेर की क्रीत दासी नहीं हूँ। मेरे गृहिणीत्व का अधिकार केवल मेरा पदस्खलन ही छीन सकता है। मुझे विश्वास है, मैं अपने आचरण से अब तक इस पद की स्वामिनी हूँ। कोई भी मुझे इससे वंचित नहीं कर सकता।

आश्चर्य से देखा नंदन ने और हत्बुद्धि होकर सुना कलश ने। दोनों उपवन के बाहर चले गए।

वह उपवन सबसे परित्यक्त और उपेक्षणीय बन गया। भीतर बैठी हुई राधा ने यह सब देखा।

नंदन ने पिता का अनुकरण किया। वह धीरे-धीरे राधा को भूल चला; परन्तु नए ब्याह का नाम लेते ही चौंक पड़ता। उसके मन में धन की ओर वितृष्णा जगी। ऐश्वर्य का यांत्रिक शासन जीवन को नीरस बनाने लगा। उसके मन की अतृप्ति, विद्रोह करने के लिए सुविधा खोजने लगी।

कलश ने उसके मनोविनोद के लिए नया उपवन बनवाया। नंदन अपनी स्मृतियों का लीला-निकेतन छोड़कर रहने लगा।

राधा के आभूषण बिकते थे और उस सेठ के द्वार की अतिथि-सेवा वैसी ही होती रहती। मुक्त द्वार का अपरिमित व्यय और आभूषणों के विक्रय की आय—कब तक यह युद्ध चले? अब राधा के पास बच गया था वही मणि-निर्मित दीपाधार, जिसे महादेवी ने उसकी क्रीड़ा के लिए बनवाया था।

थोड़ा-सा अन्न अतिथियों के लिए बचा था। राधा दो दिन से उपवास कर रही थी। दासी ने कहा—स्वामिनी! यह कैसे हो सकता है कि आपके सेवक, बिना आपके भोजन किए अन्न ग्रहण करें?

राधा ने कहा—तो, आज यह मणि-दीप बिकेगा। दासी उसे ले आई। वह यन्त्र से बनी हुई रत्न-जटित नर्तकी नाच उठी। उसके नूपुर की झंकार उस दरिद्र भवन में गूँजने लगी। राधा हँसी। उसने कहा—मनुष्य जीवन में इतनी नियमानुकूलता यदि होती?

स्नेह से चूमकर उसे बेचने के लिए अनुचर को दे दिया। पण्य में पहुँचते ही दीपाधार बड़े-बड़े रत्न-वणिकों की दृष्टि में एक कुतूहल बन गया। उस चूड़ामणि का दिव्य आलोक सभी की आँखों में चकाचौंध उत्पन्न कर देता था। मूल्य की बोली बढ़ने लगी। कलश भी पहुँचा। उसने पूछा—यह किसका है? अनुचर ने उत्तर दिया—मेरी स्वामिनी सौभाग्यवती श्रीमती राधा देवी का।

लोभी कलश ने डाँटकर कहा—मेरे घर की वस्तु इस तरह चुरा कर तुम लोग बेचने फिर जाओगे, तो बन्दी-गृह में पड़ोगे। भागो।

अमूल्य दीपाधार से वंचित सब लोग लौट गए। कलश उसे अपने घर उठवा ले गया।

राधा ने सब सुना—वह कुछ न बोली।

गंगा और शोण में एक साथ ही बाढ़ आई। गाँव-के-गाँव बहने लगे। भीषण हाहाकार मचा। कहाँ ग्रामीणों की असहाय दशा और कहाँ जल की उद्दण्ड बाढ़, कच्चे झोंपड़े उस महाजल-व्याल की फूँक से तितर-बितर होने लगे। वृक्षों पर जिसे आश्रय मिला, वही बच सका। नंदन के हृदय ने तीसरा धक्का खाया। नंदन का सत्साहस उत्साहित हुआ। वह अपनी पूरी शक्ति से नावों की सेना बनाकर जलप्लावन में डट गया और कलश अपने सात खण्ड के प्रासाद में बैठा वह दृश्य देखता रहा।

रात नावों पर बीतती है और बाँसों के छोटे-छोटे बेड़े पर दिन। नंदन के लिए धूप, वर्षा, शीत कुछ नहीं। अपनी धुन में वह लगा हुआ है। बाढ़-पीड़ितों का झुण्ड सेठ के प्रासाद में हर नाव से उतरने लगा। कलश क्रोध के मारे बिलबिला उठा। उसने आज्ञा दी कि बाढ़-पीड़ित यदि स्वयं नंदन भी हो, तो वह प्रासाद में न आने पावे। घण्टा घिरी थी, जल बरसता

था। कलश अपनी ऊँची अटारी पर बैठा मणि-निर्मित दीपाधार का नृत्य देख रहा था।

नंदन भी उसी नाव पर था। जिस पर चार दुर्बल स्त्रियाँ, तीन शीत से ठिठुरे हुए बच्चे और पाँच जीर्ण पंजर वाले वृद्ध थे। उस समय नाव द्वार पर जा लगी। सेठ का प्रासाद गंगा-तट की एक ऊँची चट्टान पर था। वह एक छोटा-सा दुर्ग था। जल अभी द्वार तक ही पहुँच सका था। प्रहरियों ने नाव को देखते ही रोका—पीड़ितों को इसमें स्थान नहीं।

नंदन ने पूछा—क्यों?

महाश्रेष्ठि कलश की आज्ञा।

नंदन ने क्रोध से उस प्रासाद की ओर देखा और माँझी को नाव लौटाने की आज्ञा दी। मांझी ने पूछा—कहाँ ले चलें? नंदन कुछ न बोला। नाव बाढ़ में चक्कर खाने लगी। सहसा दूर उसे जल-मग्न वृक्षों की चोटियों और पेड़ों के बीच में एक गृह का ऊपरी अंश दिखाई पड़ा। नंदन ने संकेत किया। माँझी उसी ओर नाव खेने लगा।

गृह के नीचे के अंश में जल भर गया था। थोड़ा-सा अन्न और ईंधन ऊपर के भाग में बचा था। राधा उस जल में घिरी हुई अचल थी। छत की मुँडेर पर बैठी वह जलमयी प्रकृति में डूबती हुई सूर्य की अंतिम किरणों को ध्यान से देख रही थी। दासी ने कहा—स्वामिनी! वह दीपाधार भी गया, अब तो हम लोगों के लिए बहुत थोड़ा अन्न घर में बच रहा है।

देखती नहीं यह प्रलय-सी बाढ़! कितने मरमिटे होंगे। तुम तो पक्की छत पर बैठी अभी यह दृश्य देख रही हो। आज से मैंने अपना अंश छोड़ दिया। तुम लोग जब तक जी सको, जीना।

सहसा नीचे झाँककर राधा ने देखा, एक नाव उसके वातायन से टकरा रही है, और एक युवक उसे वातायन के साथ दृढ़ता से बाँध रहा है।

राधा ने पूछा—कौन है?

नीचे सिर किए नंदन ने कहा—बाड़-पीड़ित कुछ प्राणियों को क्या आश्रय मिलेगा? अब जल का क्रोध उतर चला है। केवल दो दिन के लिए इतने मरने वालों को आश्रय चाहिए।

ठहरिए, सीढ़ी लटकाई जाती है।

राधा और दासी तथा अनुचर ने मिलकर सीढ़ी लगाई। नंदन विवर्ण मुख एक-एक को पीठ पर लादकर ऊपर पहुँचाने लगा। जब सब ऊपर आ गए, तो राधा ने आकर कहा—और तो कुछ नहीं है, केवल द्विदलों का जूस इन लोगों के लिए है, ले आऊँ।

नंदन ने सिर उठाकर देखा राधा। वह बोल उठा—राधा! तुम यहीं हो?

हाँ स्वामी, मैं अपने घर में हूँ। गृहिणी का कर्त्तव्य पालन कर रही हूँ।

पर मैं गृहस्थ का कर्त्तव्य-पालन न कर सका, राधा, पहले मुझे क्षमा करो।

स्वामी, यह अपराध मुझसे न हो सकेगा। उठिए, आज आपकी कर्मण्यता से मेरा ललाट उज्ज्वल हो रहा है। इतना साहस कहाँ छिपा था नाथ!

दोनों प्रसन्न होकर कर्त्तव्य में लगे। यथा-सम्भव उन दुखियों की सेवा होने लगी।

एक प्रहर के बाद नंदन ने कहा—मुझे भ्रम हो रहा है कि कोई यहाँ पास ही विपन्न है। राधा? अभी रात अधिक नहीं हुई है, मैं एक बार नाव लेकर जाऊँ?

राधा ने कहा—मैं भी चलूं?

नंदन ने कहा—गृहिणी का काम करो, राधा! कर्त्तव्य कठोर होता है, भाव-प्रधान नहीं।

नंदन एक माँझी को लेकर चला गया और राधा दीपक जलाकर मुँडेर पर बैठी थी। दासी और दास पीड़ितों की सेवा में लगे थे। बादल खुल गए थे। असंख्य नक्षत्र झिलमिलाकर निकल आए, मेघों के बन्दीगृह से जैसे छुट्टी मिली हो! चन्द्रमा भी धीरे-धीरे उस त्रस्त प्रदेश को भयभीत होकर देख रहा था।

एक घंटे में नंदन का शब्द सुनाई पड़ा—सीढ़ी।

राधा दीपक दिखला रही थी और सीढ़ी के सहारे नंदन ऊपर एक भारी बोझ लेकर चढ़ रहा था।

छत पर आकर उसने कहा—एक वस्त्र दो, राधा! राधा ने एक उत्तरीय दिया। वह मुमूर्षु व्यक्ति नग्न था। उसे ढककर नंदन ने थोड़ा सेंक दिया; गर्मी भीतर पहुँचते ही वह हिलने-डुलने लगा। नीचे से माँझी ने कहा—जल बड़े वेग से हट रहा है, नाव ढीली न करूँगा, तो लटक जाएगी।

नंदन ने कहा—तुम्हारे लिए भोजन लटकाता हूँ, ले लो। काल-रात्रि बीत गई। नंदन ने प्रभात में आँखें खोलकर देखा कि सब सो रहे हैं और राधा उसके पास बैठी सिर सहला रही है।

इतने में पीछे से लाया हुआ मनुष्य उठा। अपने को अपरिचित स्थान में देखकर वह चिल्ला उठा—मुझे वस्त्र किसने पहनाया, मेरा व्रत किसने भंग किया?

नंदन ने हँसकर कहा—कपिंजल! यह राधा का गृह है, तुम्हें उसके आज्ञानुसार यहाँ रहना होगा। छोड़ो पागलपन! चलो, बहुत से प्राणी हम लोगों की सहायता के अधिकारी हैं। कपिंजल ने कहा—सो कैसे हो सकता है? तुम्हारा-हमारा संग असम्भव है।

मुझे दण्ड देने के लिए ही तो तुमने यह स्वांग रचा था। राधा तो उसी दिन से निर्वासित थी और कल से मुझे भी अपने घर में प्रवेश करने की आज्ञा नहीं। कपिंजल! आज तो हम और तुम दोनों बराबर हैं और इतने अधमरों के प्राणों का दायित्व भी हमीं लोगों पर है। यह व्रत-भंग नहीं, व्रत का आरम्भ है। चलो, इस दरिद्र कुटुम्ब के लिए अन्न जुटाना होगा।

कपिंजल आज्ञाकारी बालक की भाँति सिर झुकाए उठ खड़ा हुआ।

पुरस्कार

आर्द्रा नक्षत्र; आकाश के काले-काले बादलों की घुमड़, जिसमें देव-दुन्दुभी का गम्भीर घोष। प्राची के एक निरभ्र कोने से स्वर्ण-पुरुष झाँकने लगा था।—देखने लगा महाराज की सवारी। शैलमाला के अंचल में समतल उर्वरा भूमि से सोंधी बास उठ रही थी। नगर-तोरण से जयघोष हुआ, भीड़ में गजराज का चामरधारी शुंड उन्नत दिखाई पड़ा। वह हर्ष और उत्साह का समुद्र हिलोर भरता हुआ आगे बढ़ने लगा—

प्रभात की हेम-किरणों से अनुरंजित नन्ही-नन्ही बूँदों का एक झोंका स्वर्ण-मल्लिका के समान बरस पड़ा। मंगल सूचना से जनता ने हर्ष-ध्वनि की।

रथों, हाथियों और अश्वरोहियों की पंक्ति जम गई। दर्शकों की भीड़ भी कम न थी। गजराज बैठ गया, सीढ़ियों से महाराज उतरे। सौभाग्यवती और कुमारी सुन्दरियों के दो दल, आम्रपल्लवों से सुशोभित मंगल-कलश और फूल, कुंकुम तथा खीलों से भरे थाल लिए, मधुर गान करते हुए आगे बड़े।

महाराज के मुख पर मधुर मुस्कान थी। पुरोहित-वर्ग ने स्वस्त्ययन किया। स्वर्ण-रंजित हल मूठ पकड़कर महाराज ने जुते हुए सुन्दर पुष्ट बैलों को चलने का संकेत किया। बाजे बजने लगे। किशोरी कुमारियों ने खीलों और फूलों की वर्षा की।

कौशल का यह उत्सव प्रसिद्ध था। एक दिन के लिए महाराज को कृषक बनना पड़ता—उस दिन इन्द्र-पूजन की धूमधाम होती; गोठ होती। नगर-निवासी उस पहाड़ी भूमि में आनन्द मनाते। प्रतिवर्ष कृषि का यह महोत्सव उत्साह से सम्पन्न होता; दूसरे राज्यों से भी युवक राजकुमार इस उत्सव में बड़े चाव से आकर योग देते।

मगध का एक राजकुमार अरुण अपने रथ पर बैठा बड़े कुतूहल से यह दृश्य देख रहा था।

बीजों का एक थाल लिए कुमारी मधूलिका महाराज के साथ थी। बीज बोते हुए महाराज जब हाथ बढ़ाते, तब मधूलिका उनके सामने थाल कर देती। यह खेत मधूलिका का

था, जो इस साल महाराज की खेती के लिए चुना गया था; इसलिए बीज देने का सम्मान मधूलिका को ही मिला। वह कुमारी थी। सुन्दरी थी। कौशेयवसन उसके शरीर पर इधर-उधर लहराता हुआ स्वयं शोभित हो रहा था। वह कभी उसे सम्हालती और कभी अपनी रूखी अलकों को। कृषक बालिका के शुभ्र भाल पर श्रमकणों की भी कमी न थी, वे सब बरौनियों में गूँथे जा रहे थे। सम्मान और लज्जा उसके अधरों पर मन्द मुस्कराहट के साथ सिहर उठते; किन्तु महाराज को बीज देने में उसने शिथिलता नहीं की। सब लोग महाराज का हल चलाना देख रहे थे—विस्मय से, कुतूहल से और अरुण देख रहा था कृषक कुमारी मधूलिका को। आह, कितना भोला सौन्दर्य! कितनी सरल चितवन!

उत्सव का प्रधान कृत्य समाप्त हो गया। महाराज ने मधूलिका के खेत का पुरस्कार दिया, थाल में कुछ स्वर्ण मुद्राएँ। वह राजकीय अनुग्रह था। मधूलिका ने थाली सिर से लगा ली; किन्तु साथ उसमें की स्वर्ण मुद्राओं को महाराज पर न्योछावर करके बिखेर दिया। मधूलिका की उस समय की ऊर्जस्वित मूर्ति लोग आश्चर्य से देखने लगे! महाराज की भृकुटि भी जरा चढ़ी ही थी कि मधूलिका ने सविनय कहा—देव! यह मेरे पितृ-पितामहों की भूमि है। इसे बेचना अपराध है; इसलिए मूल्य स्वीकार करना मेरी सामर्थ्य के बाहर है। महाराज के बोलने के पहले ही वृद्ध मन्त्री ने तीखे स्वर से कहा—अबोध! क्या बक रही है? राजकीय अनुग्रह का तिरस्कार! तेरी भूमि से चौगुना मूल्य है; फिर कौशल का तो यह सुनिश्चित राष्ट्रीय नियम है। तू आज से राजकीय रक्षण पाने की अधिकारिणी हुई, इस धन से अपने को सुखी बना।

राजकीय रक्षण की अधिकारिणी तो सारी प्रजा है, मन्त्रिवर!...महाराज को भूमि-समर्पण करने में मेरा कोई विरोध न था और न है; किन्तु मूल्य स्वीकार करना असम्भव है। —मधूलिका उत्तेजित हो उठी थी।

महाराज के संकेत करने पर मन्त्री ने कहा—देव! वाराणसी-युद्ध के अन्यतम वीर सिंहमित्र की यह एकमात्र कन्या है।—महाराज चौंक उठे—सिंहमित्र की कन्या! जिसने मगध के सामने कौशल की लाज रख ली थी, उसी वीर की मधूलिका कन्या है

हाँ, देव!—सविनय मन्त्री ने कहा।

इस उत्सव के परम्परागत नियम क्या हैं, मन्त्रिवर?—महाराज ने पूछा।

देव, नियम तो बहुत साधारण हैं। किसी भी अच्छी भूमि को इस उत्सव के लिए चुनकर नियमानुसार पुरस्कार-स्वरूप उसका मूल्य दे दिया जाता है। वह भी अत्यन्त अनुग्रहपूर्वक अर्थात् भू-सम्पत्ति का चौगुना मूल्य उसे मिलता है। उस खेती को वही व्यक्ति वर्ष-भर देखता है। वह राजा का खेत कहा जाता है।

महाराज को विचार-संघर्ष से विश्राम की अत्यन्त आवश्यकता थी। महाराज चुप रहे। जयघोष के साथ सभा विसर्जित हुई। सब अपने-अपने शिविरों में चले गए, किन्तु मधूलिका को उत्सव में फिर किसी ने न देखा। वह अपने खेत की सीमा पर विशाल मधूक-वृक्ष के चिकने हरे पत्तों की छाया में अनमनी चुपचाप बैठी रही।

रात्रि का उत्सव अब विश्राम ले रहा था। राजकुमार अरुण उसमें सम्मिलित नहीं हुआ

—अपने विश्राम-भवन में जागरण कर रहा था। आँखों में नींद न थी। प्राची में जैसी गुलाबी खिल रही थी, वह रंग उसकी आँखों में था। सामने देखा तो मुण्डेर पर कपोती एक पैर पर खड़ी पंख फैलाये अँगड़ाई ले रही थी। अरुण उठ खड़ा हुआ। द्वार पर सुसज्जित अश्व था, वह देखते-देखते नगर-तोरण पर जा पहुँचा। रक्षक-गण ऊँघ रहे थे, अश्व के पैरों के शब्द से चौंक उठे।

युवक-कुमार तीर-सा निकल गया। सिंधुदेश का तुरंग प्रभात के पवन से पुलकित हो रहा था। घूमता-घूमता अरुण उसी मधूक-वृक्ष के नीचे पहुँचा, जहाँ मधूलिका अपने हाथ पर सिर धरे हुए खिन्न-निद्रा का सुख ले रही थी।

अरुण ने देखा, एक छिन्न माधवीलता वृक्ष की शाखा से च्युत होकर पड़ी है। सुमन मुकुलित, भ्रमर निस्पन्द थे। अरुण ने अपने अश्व को मौन रहने का संकेत किया, उस सुषमा को देखने के लिए, परन्तु कोकिल बोल उठा। जैसे उसने अरुण से प्रश्न किया—छि:, कुमारी के सोए हुए सौन्दर्य पर दृष्टिपात करने वाले धृष्ट, तुम कौन? मधूलिका की आँखें खुल पड़ीं। उसने देखा, एक अपरिचित युवक। वह संकोच से उठ बैठी। भद्रे! तुम्हीं न कल के उत्सव की संचालिका रही हो?

उत्सव! हाँ, उत्सव ही तो था।

कल उस सम्मान...

क्यों आपको कल का स्वप्न सता रहा है? भद्र! आप क्या मुझे इस अवस्था में सन्तुष्ट न रहने देंगे?

मेरा हृदय तुम्हारी उस छवि का भक्त बन गया है, देवि!

मेरे उस अभिनय का, मेरी विडम्बना का। आह! मनुष्य कितना निर्दयी है, अपरिचित! क्षमा करो, जाओ अपने मार्ग।

सरलता की देवि! मैं मगध का राजकुमार तुम्हारे अनुग्रह का प्रार्थी हूँ—मेरे हृदय की भावना अवगुण्ठन में रहना नहीं जानती। उसे अपनी...।

राजकुमार! मैं कृषक-बालिका हूँ। आप नन्दबिहारी और मैं पृथ्वी पर परिश्रम करके जीने वाली। आज मेरी स्नेह की भूमि पर से मेरा अधिकार छीन लिया गया। मैं दु:ख से विकल हूँ; मेरा उपहास न करो।

मैं कौशल-नरेश से तुम्हारी भूमि तुम्हें दिलवा दूँगा।

नहीं, वह कौशल का राष्ट्रीय नियम है। मैं उसे बदलना नहीं चाहती, चाहे उससे मुझे कितना ही दु:ख हो।

तब तुम्हारा रहस्य क्या है?

यह रहस्य मानव-हृदय का है, मेरा नहीं। राजकुमार, नियमों से यदि मानव-हृदय बाध्य होता, तो आज मगध के राजकुमार का हृदय किसी राजकुमारी की ओर न खिंचकर एक कृषक-बालिका का अपमान करने न आता। मधूलिका उठ खड़ी हुई।

चोट खाकर राजकुमार लौट पड़ा। किशोर किरणों में उसका रत्नकिरीट चमक उठा। अश्व वेग से चला जा रहा था और मधूलिका निष्ठुर प्रहार करके क्या स्वयं आहत न हुई?

उसके हृदय में टीस-सी होने लगी। वह सजल नेत्रों से उड़ती हुई धूल देखने लगी।

मधूलिका ने राजा का प्रतिपादन, अनुग्रह नहीं लिया। वह दूसरे खेतों में काम करती और चौथे पहर रूखी-सूखी खाकर पड़ रहती। मधूक-वृक्ष के नीचे छोटी-सी पर्णकुटीर थी। सूखे डंठलों से उसकी दीवार बनी थी। मधूलिका का वही आश्रय था। कठोर परिश्रम से रूखा अन्न मिलता, वही उसकी साँसों को बढ़ाने के लिए पर्याप्त था।

दुबली होने पर भी उसके अंग पर तपस्या की कान्ति थी। आसपास के कृषक उसका आदर करते। वह एक आदर्श बालिका थी। दिन, सप्ताह, महीने और वर्ष बीतने लगे।

शीतकाल की रजनी, मेघों से भरा आकाश, जिसमें बिजली की दौड़-धूप। मधूलिका का छाजन टपक रहा था! ओढ़ने की कमी थी। वह ठिठुरकर एक कोने में बैठी थी। मधूलिका अपने अभाव को आज बढ़ाकर सोच रही थी। जीवन से सामंजस्य बनाए रखने वाले उपकरण तो अपनी सीमा निर्धारित रखते हैं; परन्तु उनकी आवश्यकता कल्पना के साथ बढ़ती-घटती रहती है। आज बहुत दिनों पर उसे बीती हुई बात स्मरण हुई। दो, नहीं-नहीं, तीन वर्ष हुए होंगे, इसी मधूक के नीचे प्रभात में—तरुण राजकुमार ने क्या कहा था।

वह अपने हृदय से पूछने लगी—उन चाटुकारी के शब्दों को सुनने के लिए उत्सुक-सी वह पूछने लगी—क्या कहा था? दुःख-दग्ध हृदय उन स्वप्न-सी बातों को स्मरण कर सकता था? और स्मरण ही होता, तो भी कष्टों की इस काली निशा में वह कहने का साहस करता। हाय री विडम्बना!

आज मधूलिका उस बीते हुए क्षण को लौटा लेने के लिए विकल थी। दारिद्र्य की ठोकरों ने उसे व्यथित और अधीर कर दिया है। मगध की प्रसाद-माला के वैभव का काल्पनिक चित्र-उन सूखे डंठलों के रन्ध्रों से, नभ में—बिजली के आलोक में—नाचता हुआ दिखाई देने लगा। खिलवाड़ी शिशु जैसे श्रावण की संध्या में जुगनू को पकड़ने के लिए हाथ लपकाता है, वैसे ही मधूलिका मन-ही-मन कह रही थी। 'अभी वह निकल गया।' वर्षा ने भीषण रूप धारण किया। गड़-गड़ाहट बढ़ने लगी; ओले पड़ने की सम्भावना थी। मधूलिका अपनी जर्जर झोंपड़ी के लिए काँप उठी। सहसा बाहर कुछ शब्द हुआ—

कौन है यहाँ? पथिक को आश्रय चाहिए।

मधूलिका ने डंठलों का कपाट खोल दिया। बिजली चमक उठी। उसने देखा एक पुरुष घोड़े की डोर पकड़े खड़ा है। सहसा वह चिल्ला उठी—राजकुमार!

मधूलिका?—आश्चर्य से युवक ने कहा।

एक क्षण के लिए सन्नाटा छा गया। मधूलिका अपनी कल्पना को सहसा प्रत्यक्ष देखकर चकित हो गई—इतने दिनों बाद आज फिर!

अरुण ने कहा—कितना समझाया मैंने, परन्तु...

मधूलिका अपनी दयनीय अवस्था पर संकेत करने देना नहीं चाहती थी। उसने कहा—और आज उसकी यह क्या दशा है?

सिर झुकाकर अरुण ने कहा—मैं मगध का विद्रोही निर्वासित कौशल में जीविका खोजने आया हूँ।

मधूलिका उस अँधकार में हँस पड़ी—मगध के विद्रोही राजकुमार का स्वागत करे एक अनाथिनी कृषक-बालिका, यह भी एक विडम्बना है, तो भी मैं स्वागत के लिए प्रस्तुत हूँ।

शीतकाल की निस्तब्ध रजनी, कुहरे में धुली हुई चाँदनी, हाड़ कँपा देनेवाला समीर, तो भी अरुण और मधूलिका दोनों पहाड़ी गह्वर के द्वार पर वट-वृक्ष के नीचे बैठे हुए बातें कर रहे हैं। मधूलिका की वाणी में उत्साह था, किन्तु अरुण जैसे अत्यन्त सावधान होकर बोलता।

मधूलिका ने पूछा—जब तुम इतनी विपन्न अवस्था में हो, तो फिर इतने सैनिकों के साथ रहने की क्या आवश्यकता है।

मधूलिका! बाहुबल ही तो वीरों की आजीविका है। ये मेरे जीवन-मरण के साथी हैं, भला मैं इन्हें कैसे छोड़ देता? और करता ही क्या?

क्यों? हम लोग परिश्रम से कमाते और खाते। अब तो तुम...।

भूल न करो, मैं अपने बाहुबल पर भरोसा करता हूँ। नए राज्य की स्थापना कर सकता हूँ। निराश क्यों हो जाऊँ?—अरुण के शब्दों में कम्पन था; वह जैसे कुछ कहना चाहता था; पर कह न सकता था।

नवीन राज्य! ओहो, तुम्हारा उत्साह तो कम नहीं। भला कैसे? कोई ढंग बताओ, तो मैं भी कल्पना का आनन्द ले लूं।

कल्पना का आनन्द नहीं मधूलिका, मैं तुम्हें राजरानी के सम्मान में सिंहासन पर बिठाऊँगा! तुम अपने छिने हुए खेत की चिन्ता करके भयभीत न हो।

एक क्षण में सरल मधूलिका के मन में प्रमाद का अन्धड़ बहने लगा—द्वन्द्व मच गया। उसने सहसा कहा—आह, मैं सचमुच आज तक तुम्हारी प्रतीक्षा करती थी राजकुमार।

अरुण ढिठाई से उसके हाथों को दबाकर बोला—तो मेरा भ्रम था, तुम सचमुच मुझे प्यार करती हो?

युवती का वक्षस्थल फूल उठा, वह हाँ भी नहीं कह सकी, ना भी नहीं। अरुण ने उसकी अवस्था का अनुभव कर लिया। कुशल मनुष्य के समान उसने अवसर को हाथ से न जाने दिया। तुरन्त बोल उठा—तुम्हारी इच्छा हो, तो प्राणों से पण लगा कर मैं तुम्हें इस कौशल-सिंहासन पर बिठा दूँ। मधूलिके! अरुण के खड्ग का आतंक देखोगी? मधूलिका एक बार काँप उठी। वह कहना चाहती थी...नहीं; किन्तु उसके मुँह से निकला—क्या?

सत्य मधूलिका, कौशल-नरेश तभी से तुम्हारे लिए चिन्तित हैं। यह मैं जानता हूँ, तुम्हारी साधारण-सी प्रार्थना वह अस्वीकार न करेंगे और मुझे यह भी विदित है कि कौशल के सेनापति अधिकांश सैनिकों के साथ पहाड़ी दस्युओं का दमन करने के लिए बहुत दूर चले गए हैं।

मधूलिका की आँखों के आगे बिजलियाँ हँसने लगीं। दारुण भावना से उसका मस्तक विकृत हो उठा। अरुण ने कहा-तुम बोलती नहीं हो?

जो कहोगे, वह करूँगी...मन्त्रमुग्ध-सी मधूलिका ने कहा।

स्वर्णमंच पर कौशल-नरेश अर्द्धनिद्रित अवस्था में आँखें मुकुलित किए हैं। एक

चामरधारिणी युवती पीछे खड़ी अपनी कलाई बड़ी कुशलता से घुमा रही है। चामर के शुभ्र आन्दोलन उस प्रकोष्ठ में धीरे-धीरे संचालित हो रहे हैं। ताम्बूलवाहिनी प्रतिमा के समान दूर खड़ी है।

प्रतिहारी ने आकर कहा—जय हो देव! एक स्त्री कुछ प्रार्थना करने आई है।

आँख खोलते हुए महाराज ने कहा—स्त्री! प्रार्थना करने आई है? आने दो।

प्रतिहारी के साथ मधूलिका आई। उसने प्रणाम किया। महाराज ने स्थिर दृष्टि से उसकी ओर देखा और कहा—तुम्हें कहीं देखा है?

तीन बरस हुए देव! मेरी भूमि खेती के लिए ली गई थी।

ओह, तो तुमने इतने दिन कष्ट में बिताए, आज उसका मूल्य मांगने आई हो, क्यों? अच्छा-अच्छा तुम्हें मिलेगा। प्रतिहारी!

नहीं महाराज, मुझे मूल्य नहीं चाहिए।

मूर्ख! फिर क्या चाहिए?

उतनी ही भूमि, दुर्ग के दक्षिणी नाले के समीप की जंगली भूमि, वहीं मैं अपनी खेती करूँगी। मुझे सहायक मिल गया। वह मनुष्यों से मेरी सहायता करेगा, भूमि को समतल भी बनाना होगा।

महाराज ने कहा—कृषक-बालिके! वह बड़ी ऊबड़-खाबड़ भूमि है। तिस पर वह दुर्ग के समीप एक सैनिक महत्त्व रखती है।

तो फिर निराश लौट जाऊँ?

सिंहमित्र की कन्या! मैं क्या करूँ, तुम्हारी यह प्रार्थना...

देव! जैसी आज्ञा हो!

जाओ, तुम श्रमजीवियों को उसमें लगाओ। मैं अमात्य को आज्ञापत्र देने का आदेश करता हूँ।

जय हो देव!—कहकर प्रणाम करती हुई मधूलिका राजमन्दिर के बाहर आई।

दुर्ग के दक्षिण, भयावने नाले के तट पर, घना जंगल है, आज मनुष्यों के पद-संचार से शून्यता भंग हो रही थी। अरुण के छिपे वे मनुष्य स्वतन्त्रता से इधर-उधर घूमते थे। झाड़ियों को काटकर पथ बन रहा था। नगर दूर था, फिर उधर यों ही कोई नहीं आता था। फिर अब तो महाराज की आज्ञा से वहाँ मधूलिका का अच्छा खेत बन रहा था। तब इधर की किसको चिन्ता होती?

एक घने कुंज में अरुण और मधूलिका एक-दूसरे को हर्षित नेत्रों से देख रहे थे। सन्ध्या हो चली थी। उसी निविड़ वन में उन नवागत मनुष्यों को देखकर पक्षीगण अपने नीड़ को लौटते हुए अधिक कोलाहल कर रहे थे।

प्रसन्नता से अरुण की आँखें चमक उठीं। सूर्य की अंतिम किरण झुरमुट में घुसकर मधूलिका के कपोलों से खेलने लगी। अरुण ने कहा—चार प्रहर और, विश्वास करो, प्रभात में ही इस जीर्ण-कलेवर कौशल-राष्ट्र की राजधानी श्रावस्ती में तुम्हारा अभिषेक होगा और मगध से निर्वासित मैं एक स्वतन्त्र राष्ट्र का अधिपति बनूँगा, मधूलिके!

भयानक! अरुण, तुम्हारा साहस देख मैं चकित हो रही हूँ। केवल सौ सैनिकों से तुम...

रात के तीसरे प्रहर मेरी विजय-यात्रा होगी।

तो तुमको इस विजय पर विश्वास है?

अवश्य, तुम अपनी झोंपड़ी में यह रात बिताओ; प्रभात से तो राज-मन्दिर ही तुम्हारा लीला-निकेतन बनेगा।

मधूलिका प्रसन्न थी; किन्तु अरुण के लिए उसकी कल्याण-कामना सशंक थी। वह कभी-कभी उद्विग्न-सी होकर बालकों के समान प्रश्न कर बैठती। अरुण उसका समाधान कर देता। सहसा कोई संकेत पाकर उसने कहा—अच्छा, अँधकार अधिक हो गया। अभी तुम्हें दूर जाना है और मुझे भी प्राण-पण से इस अभियान के प्रारम्भिक कार्यों को अर्द्धरात्रि तक पूरा कर लेना चाहिए; तब रात्रि-भर के लिए विदा! मधूलिके!

मधूलिका उठ खड़ी हुई। कँटीली झाड़ियों से उलझती हुई क्रम से, बढ़ने वाले अँधकार में वह झोंपड़ी की ओर चली।

पथ अँधकारमय था और मधूलिका का हृदय भी निविड़-तम से घिरा था। उसका मन सहसा विचलित हो उठा, मधुरता नष्ट हो गई। जितनी सुख-कल्पना थी, वह जैसे अँधकार में विलीन होने लगी। वह भयभीत थी, पहला भय उसे अरुण के लिए उत्पन्न हुआ, यदि वह सफल न हुआ तो? फिर सहसा सोचने लगी—वह क्यों सफल हो? श्रावस्ती का दुर्ग एक विदेशी के अधिकार में क्यों चला जाय? मगध का चिरशत्रु! ओह, उसकी विजय! कौशल-नरेश ने क्या कहा था—'सिंहमित्र की कन्या।' सिंहमित्र, कौशल का रक्षक वीर, उसी की कन्या आज क्या करने जा रही है? नहीं, 'नहीं, मधूलिका! मधूलिका!!' जैसे उसके पिता उस अँधकार में पुकार रहे थे। वह पगली की तरह चिल्ला उठी। रास्ता भूल गई।

रात एक पहर बीत चली, पर मधूलिका अपनी झोंपड़ी तक न पहुँची। वह उधेड़-बुन में विक्षिप्त-सी चली जा रही थी। उसकी आँखों के सामने कभी सिंहमित्र और कभी अरुण की मूर्ति अँधकार में चित्रित होती जाती। उसे सामने आलोक दिखाई पड़ा। वह बीच पथ में खड़ी हो गई। प्राय: एक सौ उल्काधारी अश्वारोही चले आ रहे थे और आगे-आगे एक वीर अधेड़ सैनिक था। उसके बाएँ हाथ में अश्व की वल्गा और दाहिने हाथ में नग्न खड्ग। अत्यन्त धीरता से वह टुकड़ी अपने पथ पर चल रही थी, परन्तु मधूलिका बीच पथ से हिली नहीं। प्रमुख सैनिक पास आ गया; पर मधूलिका अब भी नहीं हटी। सैनिक ने अश्व रोककर कहा—कौन? कोई उत्तर नहीं मिला। तब तक दूसरे अश्वारोही ने कड़ककर कहा—तू कौन है, स्त्री? कौशल के सेनापति को उत्तर शीघ्र दे।

रमणी जैसे विकार-ग्रस्त स्वर में चिल्ला उठी—बाँध लो, मुझे बाँध लो। मेरी हत्या करो। मैंने अपराध ही ऐसा किया है।

सेनापति हँस पड़े, बोले—पगली है।

पगली नहीं, यदि वही होती, तो इतनी विचार-वेदना क्यों होती? सेनापति! मुझे बाँध लो। राजा के पास ले चलो।

क्या है, स्पष्ट कह!

श्रावस्ती का दुर्ग एक प्रहर में दस्युओं के हस्तगत हो जाएगा। दक्षिणी नाले के पार उनका आक्रमग होगा।

सेनापति चौंक उठे। उन्होंने आश्चर्य से पूछा—तू क्या कह रही है?

मैं सच कह रही हूँ; शीघ्रता करो।

सेनापति ने अस्सी सैनिकों को नाले की ओर धीरे-धीरे बढ़ने की आज्ञा दी और स्वयं बीस अश्वारोहियों के साथ दुर्ग की ओर बढ़े। मधूलिका एक अश्वारोही के साथ बाँध दी गई।

श्रावस्ती का दुर्ग, कौशल राष्ट्र का केन्द्र, इस रात्रि में अपने विगत वैभव का स्वप्न देख रहा था। भिन्न राजवंशों ने उसके प्रान्तों पर अधिकार जमा लिया है। अब वह केवल कई गाँवों का अधिपति है। फिर भी उसके साथ कौशल के अतीत की स्वर्ण-गाथाएँ लिपटी हैं। वही लोगों की ईर्ष्या का कारण है। जब थोड़े-से अश्वारोही बड़े वेग से आते हुए दुर्ग-द्वार पर रुके, तब दुर्ग के प्रहरी चौंक उठे। उल्का के आलोक में उन्होंने सेनापति को पहचाना, द्वार खुला। सेनापति घोड़े की पीठ से उतरे। उन्होंने कहा—अग्निसेन! दुर्ग में कितने सैनिक होंगे।

सेनापति की जय हो! दो सौ।

उन्हें शीघ्र ही एकत्र करो; परन्तु बिना किसी शब्द के। सौ को लेकर तुम शीघ्र ही चुपचाप दुर्ग के दक्षिण की ओर चलो। आलोक और शब्द न हों।

सेनापति ने मधूलिका की ओर देखा। वह खोल दी गई। उसे अपने पीछे आने का संकेत कर सेनापति राजमन्दिर की ओर बढ़े। प्रतिहारी ने सेनापति को देखते ही महाराज को सावधान किया। वह अपनी सुख-निद्रा के लिए प्रस्तुत हो रहे थे; किन्तु सेनापति और साथ में मधूलिका को देखते ही चंचल हो उठे। सेनापति ने उन्हें कहा—जय हो देव! इस स्त्री के कारण मुझे इस समय उपस्थित होना पड़ा है।

महाराज ने स्थिर नेत्रों से देखकर कहा—सिंहमित्र की कन्या! फिर यहाँ क्यों? क्या तुम्हारा क्षेत्र नहीं बन रहा है। कोई बाधा? सेनापति! मैंने दुर्ग के दक्षिणी नाले के समीप की भूमि इसे दी है। क्या उसी सम्बन्ध में तुम कहना चाहते हो?

देव! किसी गुप्त शत्रु ने उसी ओर से आज की रात में दुर्ग पर अधिकार कर लेने का प्रबन्ध किया है और इसी स्त्री ने मुझे पथ में यह सन्देश दिया है।

राजा ने मधूलिका की ओर देखा। वह काँप उठी। घृणा और लज्जा से वह गड़ी जा रही थी। राजा ने पूछा—मधूलिका, यह सत्य है!

हाँ, देव!

राजा ने सेनापति से कहा—सैनिकों को एकत्र करके तुम चलो। मैं अभी आता हूँ! सेनापति के चले जाने पर राजा ने कहा—सिंहमित्र की कन्या! तुमने एक बार फिर कौशल का उपकार किया। यह सूचना देकर तुमने पुरस्कार का काम किया है। अच्छा, तुम यहीं ठहरो। पहले उन आततायियों का प्रबन्ध कर लूँ।

अपने साहसिक अभियान में अरुण बन्दी हुआ और दुर्ग उल्का के आलोक में अतिरंजित हो गया। भीड़ ने जयघोष किया। सबके मन में उल्लास था। श्रावस्ती दुर्ग आज

दस्यु के हाथ में जाने से बचा। आबाल-वृद्ध-नारी आनन्द से उन्मत्त हो उठे।

उषा के आलोक में सभा-मण्डप दर्शकों से भर गया। बन्दी अरुण को देखते ही जनता ने रोष से हुँकार करते हुए कहा—'वध करो!' राजा ने सबसे सहमत होकर आज्ञा दी—'प्राण-दण्ड!' मधूलिका बुलाई गई। वह पगली-सी आकर खड़ी हो गई। कौशल-नरेश ने पूछा—मधूलिका, तुझे जो पुरस्कार लेना हो, मांग। वह चुप रही।

राजा ने कहा—मेरी निज की जितनी खेती है, मैं सब तुम्हें देता हूँ। मधूलिका ने एक बार बन्दी अरुण की ओर देखा। उसने कहा—मुझे कुछ न चाहिए। अरुण हँस पड़ा। राजा ने कहा—नहीं, मैं तुझे अवश्य दूँगा। माँग ले।

तो मुझे भी प्राणदण्ड मिले। कहती हुई वह बन्दी अरुण के पास जा खड़ी हुई।

इन्द्रजाल

गाँव के बाहर, एक छोटे-से बंजर में कंजरों का दल पड़ा था। उस परिवार में टट्टू, भैंसे और कुत्तों को मिलाकर इक्कीस प्राणी थे। उसका सरदार मैकू, लम्बी-चौड़ी हड्डियोंवाला एक अधेड़ पुरुष था। दया-माया उसके पास फटकने नहीं पाती थी। उसकी घनी दाढ़ी और मूँछों के भीतर प्रसन्नता की हँसी छिपी ही रह जाती। गाँव में भीख माँगने के लिए जब कंजरों की स्त्रियाँ जातीं, तो उनके लिए मैकू की आज्ञा थी कि कुछ न मिलने पर अपने बच्चों को निर्दयता से गृहस्थ के द्वार पर जो स्त्री न पटक देगी, उसको भयानक दण्ड मिलेगा।

उस निर्दय झुण्ड में गानेवाली एक लड़की थी और एक बाँसुरी बजानेवाला युवक। ये दोनों भी गा-बजाकर जो पाते, वह मैकू के चरणों में लाकर रख देते। फिर भी गोली और बेला की प्रसन्नता की सीमा न थी। उन दोनों का नित्य सम्पर्क ही उनके लिए स्वर्गीय सुख था। इन घुमक्कड़ों के दल में ये दोनों विभिन्न रुचि के प्राणी थे। बेला बेड़िन थी। माँ के मर जाने पर अपने शराबी और अकर्मण्य पिता के साथ वह कंजरों के हाथ लगी। अपनी माता के गाने-बजाने का संस्कार उसकी नस-नस में भरा था। वह बचपन से ही अपनी माता का अनुकरण करती हुई अलापती रहती थी।

शासन की कठोरता के कारण कंजरों का डाका और लड़कियों के चुराने का व्यापार बन्द हो चला था। फिर भी मैकू अवसर से नहीं चूकता। अपने दल की उन्नति में बराबर लगा ही रहता। इस तरह गोली के बाप के मर जाने पर, जो एक चतुर नट था, मैकू ने उसकी खेल की पिटारी के साथ गोली पर भी अधिकार जमाया। गोली महुअर तो बजाता ही था, पर बेला का साथ होने पर उसने बाँसुरी बजाने में अभ्यास किया। पहले तो उसकी नट-विद्या में बेला भी मनोयोग से लगी, किन्तु दोनों को भानुमती वाली पिटारी ढोकर दो-चार पैसे कमाना अच्छा न लगा। दोनों को मालूम हुआ कि दर्शक उस खेल से अधिक उसका गाना पसन्द करते हैं। दोनों का झुकाव उसी ओर हुआ। पैसा भी मिलने लगा। इन नवागन्तुक बाहरियों

की कंजरों के दिल में प्रतिष्ठा बढ़ी।

बेला साँवली थी, जैसे पावस की मेघमाला में छिपे हुए आलोकपिण्ड का प्रकाश निखरने की अदम्य चेष्टा कर रहा हो, वैसे ही उसका यौवन सुगठित शरीर के भीतर उद्वेलित हो रहा था। गोली के स्नेह की मदिरा से उसकी कजरारी आँखें लाली से भरी रहतीं। वह चलती तो थिरकती हुई, बातें करती तो हंसती हुई। एक मिठास उसके चारों ओर बिखरी रहती। फिर भी गोली से अभी उसका ब्याह नहीं हुआ था।

गोली जब बाँसुरी बजाने लगता, तब बेला के साहित्यहीन गीत जैसे प्रेम के माधुर्य की व्याख्या करने लगते। गाँव के लोग उसके गीतों के लिए कंजरों को शीघ्र हटाने का उद्योग नहीं करते! जहाँ अपने अन्य सदस्यों के कारण कंजरों का वह दल घृणा और भय का पात्र था, वहाँ गोली और बेला का संगीत आकर्षण के लिए पर्याप्त था; किन्तु इसी में एक व्यक्ति का अवांछनीय सहयोग भी आवश्यक था। वह था भूरे, छोटी-सी ढोल लेकर उसे भी बेला का साथ करना पड़ता।

भूरे सचमुच भूरा भेड़िया था। गोली अधरों से बाँसुरी लगाये अर्द्ध-निमीलित आँखों के अन्तराल से, बेला के मुख को देखता हुआ जब हृदय की फूँक से बाँस के टुकड़े को अनुप्राणित कर देता, तब विकट घृणा से ताड़ित होकर भूरे की भयानक थाप ढोल पर जाती। क्षण-भर के लिए जैसे दोनों चौंक उठते।

उस दिन ठाकुर के गढ़ में बेला का दल गाने के लिए गया था। पुरस्कार में कपड़े-रुपये तो मिले ही थे; बेला को एक अँगूठी भी मिली थी। मैकू उन सबको देखकर प्रसन्न हो रहा था। इतने में सिरकी के बाहर कुछ हल्ला सुनाई पड़ा। मैकू ने बाहर आकर देखा कि भूरे और गोली में लड़ाई हो रही थी। मैकू के कर्कश स्वर से दोनों भयभीत हो गये। गोली ने कहा—'मैं बैठा था, भूरे ने मुझको गालियाँ दीं। फिर भी मैं न बोला, इस पर उसने मुझे पैर से ठोकर लगा दी।'

'और यह समझता है कि इसकी बाँसुरी के बिना बेला गा ही नहीं सकती। मुझसे कहने लगा कि आज तुम ढोलक बेताल बजा रहे थे।' भूरे का कंठ क्रोध से भर्राया हुआ था।

मैकू हँस पड़ा। वह जानता था कि गोली युवक होने पर भी सुकुमार और अपने प्रेम की माधुरी में विह्वल, लजीला और निरीह था। अपने को प्रमाणित करने की चेष्टा उसमें थी ही नहीं। वह आज जो कुछ उग्र हो गया, इसका कारण है केवल भूरे की प्रतिद्वन्द्विता।

बेला भी वहाँ आ गयी थी। उसने घृणा से भूरे की ओर देखकर कहा—

'तो क्या तुम सचमुच बेताल नहीं बजा रहे थे?'

'मैं बेताल न बजाऊंगा, तो दूसरा कौन बजावेगा। अब तो तुमको नये यार न मिले हैं। बेला! तुझको मालमू नहीं कि तेरा बाप मुझसे तेरा ब्याह ठीक करके मरा है। इसी बात पर मैंने उसे अपना नैपाली का दोगला टट्टू दे दिया था, जिस पर अब भी तू चढ़कर चलती है।' भूरे का मुँह क्रोध से भर गया था। वह और भी कुछ बकता; किन्तु मैकू की डाँट पड़ी। सब चुप हो गये।

उस निर्जन प्रान्त में जब अन्धकार खुले आकाश के नीचे तारों से खेल रहा था, तब

बेला बैठी कुछ गुनगुना रही थी।

कंजरों की झोंपड़ियों के पास ही पलाश का छोटा-सा जंगल था। उसमें बेला के गीत गूँज रहे थे। जैसे कमल के पास मधुकर को जाने से कोई रोक नहीं सकता उसी तरह गोली भी कब माननेवाला था। आज उसके निरीह हृदय में संघर्ष के कारण आत्मविश्वास का जन्म हो गया था। अपने प्रेम के लिए, अपने वास्तविक अधिकार के लिए झगड़ने की शक्ति उत्पन्न हो गयी थी। उसका छुरा कमर में था। हाथ में बाँसुरी थी। बेला की गुनगुनाहट बन्द होते ही बाँसुरी में गोली उसी तान को दुहराने लगा। दोनों वन-विहंगम की तरह उस अंधेरे कानन में किलकारने लगे। आज प्रेम के आवेश ने आवरण हटा दिया था, वे नाचने लगे। आज तारों की क्षीण ज्योति में हृदय-से-हृदय मिले, पूर्ण आवेग में। आज बेला के जीवन में यौवन का और गोली के हृदय में पौरुष का प्रथम उन्मेष था।

किन्तु भूरा भी वहाँ आने से नहीं रुका। उसके हाथ में भी भयानक छुरा था। आलिंगन में आबद्ध बेला ने चीत्कार किया। गोली छटककर दूर जा खड़ा हुआ, किन्तु घाव ओछा लगा।

बाघ की तरह झपटकर गोली ने दूसरा वार किया। भूरे सम्हाल न सका। फिर तीसरा वार चलाना ही चाहता था कि मैकू ने गोली का हाथ पकड़ लिया। वह नीचे सिर किये खड़ा रहा।

मैकू ने कड़ककर कहा—'बेला, भूरे से तुझे ब्याह करना ही होगा। यह खेल अच्छा नहीं।'

उसी क्षण सारी बातें गोली के मस्तक में छाया-चित्र-सी नाच उठीं। उसने छुरा धीरे से गिरा दिया। उसका हाथ छूट गया। जब बेला और मैकू भूरे का हाथ पकड़कर ले चले, तब गोली कहाँ जा रहा है, इसका किसी को ध्यान न रहा।

कंजर-परिवार में बेला भूरे की स्त्री मानी जाने लगी। बेला ने भी सिर झुकाकर इसे स्वीकार कर लिया, परन्तु उसे पलाश के जंगल में सन्ध्या के समय जाने से कोई भी नहीं रोक सकता था। उसे जैसे सायंकाल में एक हल्का-सा उन्माद हो जाता। भूरे या मैकू भी उसे वहाँ जाने से रोकने में असमर्थ थे। उसकी दृढ़ता-भरी आँखों से घोर विरोध नाचने लगता।

बरसात का आरम्भ था। गाँव की ओर से पुलिस के पास कोई विरोध की सूचना भी नहीं मिली थी। गाँववालों की छुरी-हँसिया और काठ-कबाड़ के कितने ही काम बनाकर वे लोग पैसे लेते थे। कुछ अन्न यों भी मिल जाता। चिड़ियाँ पकड़कर, पक्षियों का तेल बनाकर, जड़ी-बूटी की दवा तथा उत्तेजक औषधियों और मदिरा का व्यापार करके, कंजरों ने गाँव तथा गढ़ के लोगों से सद्भाव भी बना लिया था। सबके ऊपर आकर्षक बाँसुरी जब उसके साथ नहीं बजती थी, तब भी बेला के गले में एक ऐसी नयी टीस उत्पन्न हो गयी थी, जिसमें बाँसुरी का स्वर सुनाई पड़ता था।

अन्तर में भरे हुए निष्फल प्रेम से युवती का सौन्दर्य निखर आया था। उसके कटाक्ष

अलस, गति मदिर और वाणी झंकार से भर गयी थी। ठाकुर साहब के गढ़ में उसका गाना प्राय: हुआ करता था।

छींट का घाघरा और चोली, उस पर गोटे से टँकी हुई ओढ़नी सहज ही खिसकती रहती। कहना न होगा कि आधा गाँव उसके लिए पागल था। बालक पास से, युवक ठीक-ठिकाने से और बूढ़े अपनी मर्यादा, आदर्शवादिता की रक्षा करते हुए दूर से उसकी तान सुनने के लिए, एक झलक देखने के लिए घात लगाये रहते।

गढ़ के चौक में जब उसका गाना जमता, तो दूसरा काम करते हुए अन्यमनस्कता की आड़ में मनोयोग से और कनखियों से ठाकुर उसे देख लिया करते थे।

मैकू घाघ था। उसने ताड़ लिया। उस दिन संगीत बन्द होने पर पुरस्कार मिल जाने पर और भूरे के साथ बेला के गढ़ के बाहर जाने पर भी मैकू वहीं थोड़ी देर तक खड़ा रहा। ठाकुर ने उसे देखकर पूछा—'क्या है?'

'सरकार! कुछ कहना है।'

'क्या?'

'यह छोकरी इस गाँव से जाना नहीं चाहती। उधर पुलिस तंग कर रही है।'

'जाना नहीं चाहती, क्यों?'

'वह तो घूम-घामकर गढ़ में आती है। खाने को मिल जाता है।...'

मैकू आगे की बात चुप होकर कुछ-कुछ संकेत-भरी मुस्कराहट से कह देना चाहता था।

ठाकुर के मन में हलचल होने लगी। उसे दबाकर प्रतिष्ठा का ध्यान करके ठाकुर ने कहा—'तो मैं क्या करूँ?'

'सरकार! वह तो साँझ होते ही पलाश के जंगल में अकेली चली जाती है। वहीं बैठी हुई बड़ी रात तक गाया करती है।'

'हूँ!'

'एक दिन सरकार धमका दें, तो हम लोग उसे ले-देकर आगे कहीं चले जाएँ।'

'अच्छा।'

मैकू जाल फैलाकर चला गया। एक हजार की बोहनी की कल्पना करते वह अपनी सिरकी में बैठकर हुक्का गुड़गुड़ाने लगा।

बेला के सुन्दर अंग की मेघ-माला प्रेमराशि की रजत-रेखा से उद्‌भाषित हो उठी थी। उसके हृदय में यह विश्वास जम गया था कि भूरे के साथ घर बसाना गोली के प्रेम के साथ विश्वासघात करना है। उसका वास्तविक पति गोली ही है। बेला में यह उच्छृंखल भावना विकट ताण्डव करने लगी। उसके हृदय में वसन्त का विकास था। उमंग में मलयानिल की गति थी। कण्ठ में वनस्थली की काकली थी। आँखों में कुसुमोत्सव था और प्रत्येक आन्दोलन में परिमल का उद्‌गार था। उसकी मादकता बरसाती नदी की तरह वेगवती थी।

आज उसने अपने जूड़े में जंगली करौंदे के फूलों की माला लपेटकर, भरी मस्ती में जंगल की ओर चलने के लिए पैर बढ़ाया, तो भूरे ने डाँटकर कहा—'कहाँ चली?'

'यार के पास।' उसने छूटते ही कहा। बेला के सहवास में आने पर अपनी लघुता को जानते हुए मसोसकर भूरे ने कहा—'तू खून कराये बिना चैन न लेगी।'

बेला की आँखों में गोली का और उसके परिवर्धमान प्रेमांकुर का चित्र था, जो उसके हट जाने पर विरह-जल से हरा-भरा हो उठा था। बेला पलाश के जंगल में अपने बिछुड़े हुए प्रियतम के उद्देश्य से दो-चार विरह-वेदना की तानों की प्रतिध्वनि छोड़ आने का काल्पनिक सुख नहीं छोड़ सकती थी।

उस एकान्त सन्ध्या में बरसाती झिल्लियों की झनकार से वायुमण्डल गूँज रहा था। बेला अपने परिचित पलाश के नीचे बैठकर गाने लगी—

चीन्हत नाहीं बदल गये नैन...

ऐसा मालूम होता था कि सचमुच गोली उस अन्धकार में अपरिचित की तरह मुँह फिराकर चला जा रहा है। बेला की मनोवेदना को पहचानने की क्षमता उसने खो दी है।

बेला का एकान्त में विरह-निवेदन उसकी भाव-प्रवणता को और भी उत्तेजित करता था। पलाश का जंगल उसकी कातर कुहुक से गूँज रहा था। सहसा उस निस्तब्धता को भंग करते हुए घोड़े पर सवार ठाकुर साहब वहाँ आ पहुँचे।

'अरे बेला! तू यहाँ क्या कर रही है?'

बेला की स्वर-लहरी रुक गयी थी। उसने देखा ठाकुर साहब! महत्त्व का सम्पूर्ण चित्र, कई बार जिसे वह अपने मन की असंयत कल्पना में दुर्गम शैल-श्रृंग समझकर अपने भ्रम पर अपनी हँसी उड़ा चुकी थी। वह सकुचकर खड़ी हो रही। बोली नहीं, मन में सोच रही थी —'गोली को छोड़कर भूरे के साथ रहना क्या उचित है? और नहीं तो फिर...'

ठाकुर ने कहा—'तो तुम्हारे साथ कोई नहीं है। कोई जानवर निकल आवे, तो?'

बेला खिलखिलाकर हँस पड़ी। ठाकुर का प्रमाद बढ़ चला था। घोड़े से झुककर उसका कन्धा पकड़ते हुए कहा, 'चलो, तुमको पहुँचा दें।'

उसका शरीर काँप रहा था, और ठाकुर आवेश में भर रहे थे। उन्होंने कहा—'बेला, मेरे यहाँ चलोगी?'

'भूरे मेरा पति है!' बेला के इस कथन में भयानक व्यंग्य था। वह भूरे से छुटकारा पाने के लिए तरस रही थी। उसने धीरे से अपना सिर ठाकुर की जाँघ से सटा दिया। एक क्षण के लिए दोनों चुप थे। फिर उसी समय अँधकार में दो मूर्तियों का प्रादुर्भाव हुआ। कठोर कण्ठ से भूरे ने पुकारा—'बेला!'

ठाकुर सावधान हो गये थे। उनका हाथ बगल की तलवार की मूठ पर जा पड़ा। भूरे ने कहा—'जंगल में किसलिए तू आती थी, यह मुझे आज मालमू हुआ। चल, तेरा खून पिये बिना न छोड़ूँगा।'

ठाकुर के अपराध का आरम्भ तो उनके मन में हो ही चुका था। उन्होंने अपने को छिपाने का प्रयत्न छोड़ दिया। कड़ककर बोले—'खून करने के पहले अपनी भी सोच लो, तुम मुझ पर सन्देह करते हो, तो तुम्हारा भ्रम है। मैं तो...'

अब मैकू आगे आया। उसने कहा—'सरकार! बेला अब कंजरों के दल में नहीं रह

सकेगी।'

'तो तुम क्या कहना चाहते हो?' ठाकुर साहब अपने में आ रहे थे, फिर भी घटना-चक्र से विवश थे।

'अब यह आपके पास रह सकती है। भूरे इसे लेकर हम लोगों के संग नहीं रह सकता।' मैकू पूरा खिलाड़ी था। उसके सामने उस अँधकार में रुपये चमक रहे थे।

ठाकुर को अपने अहंकार का आश्रय मिला। थोड़ा-सा विवेक, जो उस अँधकार में झिलमिला रहा था, बुझ गया। उन्होंने कहा—

'तुम क्या चाहते हो?'

'एक हजार।'

'चलो, मेरे साथ।'—कहकर बेला का हाथ पकड़कर ठाकुर ने घोड़े को आगे बढ़ाया। भूरे कुछ भुनभुना रहा था; पर मैकू ने उसे दूसरी ओर भेजकर ठाकुर का संग पकड़ लिया। बेला रकाब पकड़े चली जा रही थी।

दूसरे दिन कंजरों का दल उस गाँव से चला गया।

उपरोक्त घटना को कई साल बीत गये। बेला ठाकुर साहब की एकमात्र प्रेमिका समझी जाती है। अब उसकी प्रतिष्ठा अन्य कुल-वधुओं की तरह होने लगी है। नये उपकरणों से उसका घर सजाया गया है। उस्तादों से गाना सीखा है। गढ़ के भीतर ही उसकी छोटी-सी साफ-सुथरी हवेली है। ठाकुर सहाब की उमंग की रातें वहीं कटती हैं। फिर भी ठाकुर कभी-कभी प्रत्यक्ष देख पाते कि बेला उनकी नहीं है! वह न जाने कैसे एक भ्रम में पड़ गये। बात निबाहने की आ पड़ी।

एक दिन एक नट आया। उसने अनेक तरह के खेल दिखलाये। उसके साथ उसकी स्त्री थी, वह घूँघट ऊँचा नहीं करती थी। खेल दिखलाकर जब अपनी पिटारी लेकर जाने लगा, तो कुछ मनचले लोगों ने पूछा—

'क्यों जी, तुम्हारी स्त्री कोई खेल नहीं करती क्या?'

'करती तो है सरकार! फिर किसी दिन दिखलाऊँगा।' कहकर वह चला गया; किन्तु उसकी बाँसुरी की धुन बेला के कानों में उन्माद का आह्वान सुना रही थी। पिंजड़े की वन-विहंगनी को वसन्त की फूली हुई डाली का स्मरण हो आया था।

दूसरे दिन गढ़ में भारी जमघट लगा। गोली का खेल जम रहा था। सब लोग उसके हस्त-कौशल में मुग्ध थे। सहसा उसने कहा—

'सरकार! एक बड़ा भारी दैत्य आकाश में आ गया है, उससे लड़ने जाता हूँ, मेरी स्त्री की रक्षा आप लोग कीजियेगा।'

गोली ने एक डोरी निकालकर उसको ऊपर आकाश की ओर फेंका। वह सीधी तन गयी। सबके देखते-देखते गोली उसी के सहारे आकाश में चढ़कर अदृश्य हो गया। सब लोग मुग्ध होकर भविष्य की प्रतीक्षा कर रहे थे। किसी को यह ध्यान नहीं रहा कि स्त्री अब कहाँ

है।

गढ़ के फाटक की ओर सबकी दृष्टि फिर गयी। गोली लहू से रँगा चला आ रहा था। उसने आकर ठाकुर को सलाम किया और कहा—‘सरकार! मैंने उस दैत्य को हरा दिया। अब मुझे इनाम मिलना चाहिए।’

सब लोग उस पर प्रसन्न होकर पैसों-रुपयों की बौछार करने लगे। उसने झोली भरकर इधर-उधर देखा, फिर कहा—

‘सरकार, मेरी स्त्री भी अब मिलनी चाहिए, मैं भी...।’ किन्तु यह क्या, वहाँ तो उसकी स्त्री का पता नहीं। गोली सिर पकड़कर शोक-मुद्रा में बैठ गया। जब खोजने पर उसकी स्त्री नहीं मिली, तो उसने चिल्लाकर कहा—‘यह अन्याय इस राज्य में नहीं होना चाहिए। मेरी सुन्दरी स्त्री को ठाकुर साहब ने गढ़ के भीतर कहीं छिपा दिया। मेरी योगिनी कह रही है।’ सब लोग हँसने लगे। लोगों ने समझा, यह कोई दूसरा खेल दिखलाने जा रहा है। ठाकुर ने कहा—‘तो तू अपनी सुन्दर स्त्री को मेरे गढ़ में से खोज ला!’ अन्धकार होने लगा था। उसने जैसे घबड़ाकर चारों ओर देखने का अभिनय किया। फिर आँख मूँदकर सोचने लगा।

लोगों ने कहा—‘खोजता क्यों नहीं? कहाँ है तेरी सुन्दरी स्त्री?’

‘तो जाऊं न सरकार?’

‘हाँ, हाँ, जाता क्यों नहीं’—ठाकुर ने भी हंसकर कहा।

गोली नयी हवेली की ओर चला। वह निःशंक भीतर चला गया। बेला बैठी हुई तन्मय भाव से बाहर की भीड़ झरोखे से देख रही थी। जब उसने गोली को समीप आते देखा, तो वह काँप उठी। कोई दासी वहाँ न थी। सब खेल देखने में लगी थीं। गोली ने पोटली फेंककर कहा—‘बेला! जल्द चलो।’

बेला के हृदय में तीव्र अनुभूति जाग उठी थी। एक क्षण में उस दीन भिखारी की तरह, जो एक मुट्ठी भीख के बदले अपना समस्त संचित आशीर्वाद दे देना चाहता है, वह वरदान देने के लिए प्रस्तुत हो गयी। मन्त्र-मुग्ध की तरह बेला ने उस ओढ़नी का घूँघट बनाया। वह धीरे-धीरे उस भीड़ में आ गयी। तालियाँ पिटीं। हँसी का ठहाका लगा। वही घूँघट, न खुलनेवाला घूँघट सायंकालीन समीर से हिलकर रह जाता था। ठाकुर साहब हँस रहे थे। गोली दोनों हाथों से सलाम कर रहा था।

रात हो चली थी। भीड़ के बीच में गोली बेला को लिए जब फाटक के बाहर पहुँचा, तब एक लड़के ने आकर कहा—‘एक्का ठीक है।’

तीनों सीधे उस पर जाकर बैठ गये। एक्का वेग से चल पड़ा।

अभी ठाकुर साहब का दरबार जम रहा था और नट के खेलों की प्रशंसा हो रही थी।

सलीम

पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त में एक छोटी-सी नदी के किनारे, पहाड़ियों से घिरे हुए उस छोटे-से गाँव पर, सन्ध्या अपनी धुँधली चादर डाल चुकी थी। प्रेमकुमारी वासुदेव के निमित्त पीपल के नीचे दीपदान करने पहुँची। आर्य-संस्कृति में अश्वत्थ की वह मर्यादा अनार्य-धर्म के प्रचार के बाद भी उस प्रान्त में बची थी, जिसमें अश्वत्थ चैत्य-वृक्ष या वासुदेव का आवास समझकर पूजित होता था। मन्दिरों के अभाव में तो बोधि-वृक्ष ही देवता की उपासना का स्थान था। उसी के पास लेखराम की बहुत पुरानी परचून की दुकान और उसी से सटा हुआ छोटा-सा घर था। बूढ़ा लेखराम एक दिन जब 'रामा रामा जै जै रामा' कहता हुआ इस संसार से चला गया, तब से वह दुकान बन्द थी। उसका पुत्र नन्दराम सरदार सन्तसिंह के साथ घोड़ों के व्यापार के लिए यारकन्द गया था। अभी उसके आने में विलम्ब था। गाँव में दस घरों की बस्ती थी, जिसमें दो-चार खत्रियों के और एक घर पण्डित लेखराम मिसर का था। वहाँ के पठान भी शान्तिपूर्ण व्यवसायी थे। इसीलिए वजीरियों के आक्रमण से वह गाँव सदा सशंक रहता था। गुलमुहम्मद खाँ—सत्तर वर्ष का बूढ़ा—उस गाँव का मुखिया—प्राय: अपनी चारपाई पर अपनी चौपाल में पड़ा हुआ काले-नीले पत्थरों की चिकनी मनियों की माला अपनी लम्बी-लम्बी उँगलियों में फिराता हुआ दिखाई देता। कुछ लोग अपने-अपने ऊँट लेकर बनिज-व्यापार के लिए पास की मण्डियों में गये थे। लड़के बन्दूकें लिए पहाड़ियों के भीतर शिकार के लिए चले गये थे।

प्रेमकुमारी दीप-दान और खीर की थाली वासुदेव को चढ़ाकर अभी नमस्कार कर रही थी कि नदी के उतार में अपनी पतली-दुबली काया में लड़खड़ाता हुआ, एक थका हुआ मनुष्य उसी पीपल के पास आकर बैठ गया। उसने आश्चर्य से प्रेमकुमारी को देखा। उसके मुँह से निकल पड़ा—'काफिर...!'

बदूक कन्धे पर रखे और हाथ में एक मरा हुआ पक्षी लटकाये वह दौड़ता चला आ रहा था। पत्थरों की नुकीली चट्टानें उसके पैर को छूती ही न थीं। मुँह से सीटी बज रही थी।

वह था गुलमुहम्मद का सोलह बरस का लड़का अमीर खाँ! उसने आते ही कहा—'प्रेमकुमारी, तू थाली उठाकर भागी क्यों जा रही है? मुझे तो आज खीर खिलाने के लिए तूने कह रखा था।'

'हाँ भाई अमीर! मैं अभी और ठहरती; पर क्या करूं, यह देख न, कौन आ गया है! इसलिए मैं घर जा रही थी।'

अमीर ने आगन्तुक को देखा। उसे न जाने क्यों क्रोध आ गया। उसने कड़े स्वर से पूछा—'तू कौन है?'

'एक मुसलमान'—उत्तर मिला।

अमीर ने उसकी ओर से मुँह फिराकर कहा—'मालूम होता है कि तू भी भूखा है। चल, तुझे बाबा से कहकर कुछ खाने को दिलवा दूँगा। हाँ, इस खीर में से तो तुझे नहीं मिल सकता। चल न वहीं, जहाँ आग जलती दिखाई दे रही है।' फिर उसने प्रेमकुमारी से कहा—'तू मुझे क्यों नहीं देती? वे सब आ जाएँगे, तब तेरी खीर मुझे थोड़ी ही-सी मिलेगी।'

सीटियों के शब्द से वायुमण्डल गूँजने लगा था। नटखट अमीर का हृदय चंचल हो उठा। उसने ठुनककर कहा—'तू मेरे हाथ पर ही देती जा और मैं खाता जाऊं।'

प्रेमकुमारी हँस पड़ी। उसने खीर दी। अमीर ने उसे मुँह से लगाया ही था कि नवागन्तुक चिल्ला उठा। अमीर ने उसकी ओर अबकी बार बड़े क्रोध से देखा। शिकारी लड़के पास आ गये थे। वे सब-के-सब अमीर की तरह लम्बी-चौड़ी हड्डियोंवाले स्वस्थ, गोरे और स्फूर्ति से भरे हुए थे। अमीर खीर मुँह में डालते हुए न जाने क्या कह उठा और लड़के आगन्तुक को घेरकर खड़े हो गये। उससे पूछने लगे। उधर अमीर ने अपना हाथ बढ़ाकर खीर माँगने का संकेत किया। प्रेमकुमारी हँसती जाती थी और उसे देती जाती थी। तब भी अमीर उसे तरेरते हुए अपनी आँखों में और भी देने को कह रहा था। उसकी आँखों में से अनुनय, विनय, हठ, स्नेह सभी तो माँग रहे थे, फिर प्रेमकुमारी सबके लिए एक-एक ग्रास क्यों न देती? नटखट अमीर एक आँख से लड़कों को, दूसरी आँख से प्रेमकुमारी को उलझाये हुए खीर गटकता जाता था। उधर वह नवागन्तुक मुसलमान अपनी टूटी-फूटी पश्तो में लड़कों से 'काफिर' का प्रसाद खाने की अमीर की धृष्टता का विरोध कर रहा था। वे आश्चर्य से उसकी बातें सुन रहे थे। एक ने चिल्लाकर कहा—'अरे देखो, अमीर तो सब खीर खा गया।'

सब लड़के घूमकर अब प्रेमकुमारी को घेरकर खड़े हो गये। वह सबके उजले-उजले हाथों पर खीर देने लगी। आगन्तुक ने फिर चिल्लाकर कहा—'क्या तुम सब मुसलमान हो?'

लड़कों ने एक स्वर से कहा—'हाँ, पठान।'

'और उस काफिर की दी हुई...?'

'यह मेरी पड़ोसिन है!'—एक ने कहा

'यह मेरी बहन है।' दूसरे ने कहा।

'नन्दराम बन्दूक बहुत अच्छी चलाता है।'—तीसरे ने कहा।

'ये लोग कभी झूठ नहीं बोलते।'—चौथे ने कहा।

'हमारे गाँव के लिए इन लोगों ने कई लड़ाइयाँ की हैं।'—पाँचवें ने कहा।

‘हम लोगों को घोड़े पर चढ़ना नन्दराम ने सिखलाया है। वह बहुत अच्छा सवार है।’—छठे ने कहा।

‘और नन्दराम ही तो हम लोगों को गुड़ खिलाता है।’—सातवें ने कहा।

‘तुम चोर हो।’—यह कहकर लड़कों ने अपने-अपने हाथ की खीर खा डाली और प्रेमकुमारी हँस पड़ी। सन्ध्या उस पीपल की घनी छाया में पुँजीभूत हो रही थी। पक्षियों का कोलाहल शान्त होने लगा था। प्रेमकुमारी ने सब लड़कों से घर चलने के लिए कहा, अमीर ने भी नवागन्तुक से कहा—‘तुझे भूख लगी हो, तो हम लोगों के साथ चल।’ किन्तु वह तो अपने हृदय के विष से छटपटा रहा था, जिसके लिए वह हिजरत करके भारत से चला आया था, उस धर्म का मुसलमान। देश में भी यह अपमान! वह उदास मुँह से उसी अँधकार में कट्टर दुर्दान्त वजीरियों के गाँव की ओर चल पड़ा।

नन्दराम पूरा साढ़े छ: फुट का बलिष्ठ युवक था। उसके मस्तक में केसर का टीका न लगा रहे तो कुलाह और सलवार में वह सोलहों आने पठान ही जँचता। छोटी-छोटी भूरी मूँछें खड़ी रहती थीं। उसके हाथ में कोड़ा रहना आवश्यक था। उसके मुख पर संसार की प्रसन्न आकांक्षा हँसी बनकर खेला करती। प्रेमकुमारी उसके हृदय की प्रशान्त नीलिमा में उज्जल बृहस्पति ग्रह की तरह झिलमिलाया करती थी। आज वह बड़ी प्रसन्नता में अपने घर की ओर लौट रहा था। सन्तसिंह के घोड़े अच्छे दामों में बिके थे। उसे पुरस्कार भी अच्छा मिला था। वह स्वयं अच्छा घुड़सवार था। उसने अपना घोड़ा भी अधिक मूल्य पाकर बेच दिया था। रुपये पास में थे। वह एक ऊँचे ऊँट पर बैठा हुआ चला जा रहा था। उसके साथी लोग बीच की मण्डी में रुक गये थे; किन्तु काम हो जाने पर, उसे प्रेमकुमारी को देखने की धुन सवार थी। ऊपर सूर्य की किरणें झिलमिला रही थीं। बीहड़ पहाड़ी पथ था। कोसों तक कोई गाँव नहीं था। उस निर्जनता में वह प्रसन्न होकर गाता आ रहा था।

‘वह पथिक कैसे रुकेगा, जिसके घर के किवाड़ खुले हैं और जिसकी प्रेममयी युवती स्त्री अपनी काली आँखों से पति की प्रतीक्षा कर रही है।’

‘बादल बरसते हैं, बरसने दो। आँधी पथ में बाधा डालती है। वह उड़ जाएगी। धूप पसीना बहाकर उसे शीतल कर देगी, वह तो घर की ओर आ रहा है। उन कोमल भुज-लताओं का स्निग्ध आलिंगन और निर्मल दुलार प्यासे को निर्झर और बर्फीली रातों की गर्मी है।’

‘पथिक! तू चल-चल, देख, तेरी प्रियतमा की सहज नशीली आँखें तेरी प्रतीक्षा में जागती हुईं अधिक लाल हो गयी हैं। उनमें आँसू की बूँद न आने पावे।’

पहाड़ी प्रान्त को कल्पित करता हुआ बन्दूक का शब्द प्रतिध्वनित हुआ। नन्दराम का सिर घूम पड़ा। गोली सर्र से कान के पास से निकल गयी। एक बार उसके मुँह से निकल पड़ा—‘वजीरी!’ वह झुक गया। गोलियाँ चल चुकी थीं। सब खाली गयीं। नन्दराम ने सिर उठाकर देखा, पश्चिम की पहाड़ी में झाड़ों के भीतर दो-तीन सिर दिखाई पड़े। बन्दूक

साधकर उसने गोली चला दी।

दोनों तरफ से गोलियाँ चलीं। नन्दराम की जाँघ को छीलती हुई एक गोली निकल गयी और सब बेकार रहीं। उधर दो वजीरियों की मृत्यु हुई। तीसरा कुछ भयभीत होकर भाग चला। तब नन्दराम ने कहा—'नन्दराम को नहीं पहचानता था? ले, तू भी कुछ लेता जा।।' उस वजीरी के भी पैर में गोली लगी। वह बैठ गया और नन्दराम अपने ऊँट पर घर की ओर चला।

सलीम नन्दराम के गाँव से धर्मोन्माद के नशे में चूर इन्हीं सहधर्मियों में आकर मिल गया था। उसके भाग्य से नन्दराम की गोली उसे नहीं लगी। वह झाड़ियों में छिप गया। घायल वजीरी ने उससे कहा—'तू परदेशी भूखा बनकर इसके साथ जाकर घर देख आ। इसी नाले से उतर जा। वह तुझे आगे मिल जाएगा।' सलीम उधर ही चला।

नन्दराम अब निश्चिन्त होकर धीरे-धीरे घर की ओर बढ़ रहा था। सहसा उसे कराहने का शब्द सुनाई पड़ा। उसने ऊँट रोककर सलीम से पूछा—'क्या है भाई? तू कौन है?'

सलीम ने कहा—'भूखा परदेशी हूँ। चल भी नहीं सकता। एक रोटी और दो घूँट पानी!'

नन्दराम ने ऊँट बैठाकर उसे अच्छी तरह देखते हुए फिर पूछा—'तुम यहाँ कैसे आ गये?'

'मैं हिन्दुस्तान से हिजरत करके चला आया हूँ।'

'ओह! भले आदमी, ऐसी बातों से भी कोई अपना घर छोड़ देता है? अच्छा, आओ, मेरे ऊँट पर बैठ जाओ।'

सलीम बैठ गया। दिन ढलने लगा था। नन्दराम के ऊँट के गले के बड़े-बड़े घुँघरू उस निस्तब्ध शान्ति में सजीवता उत्पन्न करते हुए बज रहे थे। उल्लास से भरा हुआ नन्दराम उसी ताल पर कुछ गुनगुनाता जा रहा था। उधर सलीम कुढ़कर मन-ही-मन भुनभुनाता जा रहा था; परन्तु ऊँट चुपचाप अपना पथ अतिक्रमण कर रहा था। धीरे-धीरे बढ़नेवाले अँधकार में वह अपनी गति से चल रहा था।

सलीम सोचता था—'न हुआ पास में एक छुरा, नहीं तो यहीं अपने साथियों का बदला चुका लेता!' फिर वह अपनी मूर्खता पर झुँझलाकर विचार करने लगा—'पागल सलीम! तू उसके घर का पता लगाने आया है न।' इसी उधेड़बुन में कभी अपने को पक्का धार्मिक, कभी सत्य में विश्वास करनेवाला, कभी शरण देनेवाले सहधर्मियों का पक्षपाती बन रहा था। सहसा ऊँट रुका और घर का किवाड़ खुल पड़ा। भीतर से जलते हुए दीपक के प्रकाश के साथ एक सुन्दर मुख दिखाई पड़ा। नन्दराम ऊँट बैठाकर उतर पड़ा। उसने उल्लास से कहा—'प्रेमो!' प्रेमकुमारी का गला भर आया था। बिना बोले ही उसने लपककर नन्दराम के दोनों हाथ पकड़ लिए।

सलीम ने आश्चर्य से प्रेमा को देखकर चीत्कार करना चाहा; पर वह सहसा रुक गया। उधर प्यार से प्रेमा के कन्धों को हिलाते हुए नन्दराम ने उसका चौंकना देख लिया।

नन्दराम ने कहा—'प्रेमा! हम दोनों के लिए रोटियाँ चाहिए! यह एक भूखा परदेशी है।

हाँ, पहले थोड़ा-सा पानी और एक कपड़ा तो देना।'

प्रेमा ने चकित होकर पूछा—'क्यों?'

'यों ही कुछ चमड़ा छिल गया है। उसे बाँध लूँ?'

'अरे, तो क्या कहीं लड़ाई भी हुई है?'

'हाँ, तीन-चार वजीरी मिल गये थे।'

'और यह?'—कहकर प्रेमा ने सलीम को देखा। सलीम भय और क्रोध से सूख रहा था! घृणा से उसका मुख विवर्ण हो रहा था।

'एक हिन्दू है।' नन्दराम ने कहा।

'नहीं, मुसलमान हूँ।'

'ओहो, हिन्दुस्तानी भाई! हम लोग हिन्दुस्तान के रहनेवालों को हिन्दू ही-सा देखते हैं। तुम बुरा न मानना।'—कहते हुए नन्दराम ने उसका हाथ पकड़ लिया। वह झुँझला उठा और प्रेमकुमारी हँस पड़ी। आज की हँसी कुछ दूसरी थी। उसकी हँसी में हृदय की प्रसन्नता साकार थी। एक दिन और प्रेमा का मुसकाना सलीम ने देखा था, तब जैसे उसमें स्नेह था। आज थी उसमें मादकता, नन्दराम के ऊपर अनुराग की वर्षा! वह और भी जल उठा। उसने कहा—'काफिर, क्या यहाँ कोई मुसलमान नहीं है?'

'है तो, पर आज तो तुमको मेरे ही यहाँ रहना होगा।' दृढ़ता से नन्दराम ने कहा।

सलीम सोच रहा था, घर देखकर लौट आने की बात! परन्तु यह प्रेमा! ओह, कितनी सुन्दर! कितना प्यार-भरा हृदय! इतना सुख! काफिर के पास यह विभूति! तो वह क्यों न यहीं रहे? अपने भाग्य की परीक्षा कर देखे!

सलीम वहीं खा-पीकर एक कोठरी में सो रहा और सपने देखने लगा—उसके हाथ में रक्त से भरा हुआ छुरा है। नन्दराम मरा पड़ा है। वजीरियों का सरदार उसके ऊपर प्रसन्न है। लूट में पकड़ी हुई प्रेमा उसे मिल रही है। वजीरियों का बदला लेने में उसने पूरी सहायता की है। सलीम ने प्रेमा का हाथ पकड़ना चाहा। साथ ही प्रेमा का भरपूर थप्पड़ उसके गाल पर पड़ा। उसने तिलमिलाकर आँखें खोल दीं। सूर्य की किरणें उसकी आँखों में घुसने लगीं।

बाहर अमीर चिलम भर रहा था। उसने कहा—'नन्दा भाई, तूने मेरे लिए पोस्तीन लाने के लिए कहा था। वह कहाँ है?' वह उछल रहा था। उसका ऊधमी शरीर प्रसन्नता से नाच रहा था।

नन्दराम मुलायम बालोंवाली चमड़े की सदरी—जिस पर रेशमी सुनहरा काम था, लिये हुए बाहर निकला। अमीर को पहनाकर उसके गालों पर चपत जड़ते हुए कहा—'नटखट, ले, तू अभी छोटा ही रहा। मैंने तो समझा था कि तीन महीनों में तू बहुत बढ़ गया होगा।'

वह पोस्तीन पहनकर उछलता हुआ प्रेमा के पास चला गया। उसका नाचना देखकर वह खिलखिला पड़ी। गुलमुहम्मद भी आ गया था। उसने पूछा—'नन्दराम, तू अच्छी तरह रहा?'

'हाँ जी! यहीं आते हुए कुछ वजीरियों का सामना हो गया। दो को ठिकाने लगा दिया।

थोड़ी-सी चोट मेरे भी आ गयी।'

'वजीरी!'—कहकर बूढ़ा एक बार चिन्ता में पड़ गया। तब तक नन्दराम ने उसके सामने रुपये की थैली उलट दी। बूढ़ा अपने घोड़े का दाम सहेजने लगा।

प्रेमा ने कहा—'बाबा! तुमने कुछ और भी कहा था। वह तो नहीं आया!'

बूढ़ा त्यौरी बदलकर नन्दराम को देखने लगा। नन्दराम ने कहा—'मुझे घर में अस्तबल के लिए एक दालान बनाना है। इसलिए बालियाँ नहीं ला सका।'

'नहीं नन्दराम! तुझको पेशावर फिर जाना होगा। प्रेमा के लिए बालियाँ बनवा ला! तू अपनी बात रखता है।'

'अच्छा चाचा! अबकी बार जाऊंगा, तो ले ही आऊँगा।'

हिजरती सलीम आश्चर्य से उनकी बातें सुन रहा था। सलीम जैसे पागल होने लगा था। मनुष्यता का एक पक्ष वह भी है, जहाँ वर्ण, धर्म और देश को भूलकर मनुष्य मनुष्य के लिए प्यार करता है। उसके भीतर की कोमल भावना, शायरों की प्रेम-कल्पना, चुटकी लेने लगी। वह प्रेमा को 'काफिर' कहता था। आज उसने चपाती खाते हुए मन-ही-मन कहा—'बुरे-काफ़िर!'

सलीम घुमक्कड़ी-जीवन की लालसाओं से सन्तप्त, व्यक्तिगत आवश्यकताओं से असन्तुष्ट युक्तप्रान्त का मुसलमान था। कुछ-न-कुछ करते रहने का उसका स्वभाव था। जब वह चारों ओर से असफल हो रहा था, तभी तुर्की की सहानुभूति में हिजरत का आन्दोलन खड़ा हुआ था। सलीम भी उसी में जुट पड़ा। मुसलमानी देशों का आतिथ्य कड़वा होने का अनुभव उसे अफगानिस्तान में हुआ। वह भटकता हुआ नन्दराम के घर पहुँचा था।

मुसलिम उत्कर्ष का उबाल जब ठण्डा हो चला, तब उसके मन में एक स्वार्थपूर्ण कोमल कल्पना का उदय हुआ। वह सूफी कवियों-सा सौन्दयोपासक बन गया। नन्दराम के घर का काम करता हुआ वह जीवन बिताने लगा। उसमें भी 'बुते-काफिर' को उसने अपनी संसार-यात्रा का चरम लक्ष्य बना लिया।

प्रेमा उससे साधारणत: हँसती-बोलती और काम के लिए कहती। सलीम उसके लिए खिलौना था। दो मन दो विरुद्ध दिशाओं में चलकर भी नियति से बाध्य थे, एकत्र रहने के लिए।

अमीर ने एक दिन नन्दराम से कहा—'उस पाजी सलीम को अपने यहाँ से भगा दो, क्योंकि उसके ऊपर सन्देह करने का पूरा कारण है।'

नन्दराम ने हँसकर कहा—'भाई अमीर! वह परदेश में बिना सहारे आया है। उसके ऊपर सबको दया करनी चाहिए।'

अमीर के निष्कपट हृदय में यह बात न जँची। वह रूठ गया। तब भी नन्दराम ने सलीम को अपने यहाँ रहने दिया।

सलीम अब कभी-कभी दूर-दूर घूमने के लिए भी चला जाता। उसके हृदय में सौन्दर्य

के कारण जो स्निग्धता आ गयी थी, वह लालसा में परिणत होने लगी। प्रतिक्रिया आरम्भ हुई। एक दिन उसे लँगड़ा वजीरी मिला। सलीम की उससे कुछ बातें हुईं। वह फिर से कट्टर मुसलमान हो उठा। धर्म की प्रेरणा से नहीं, लालसा की ज्वाला से!

वह रात बड़ी भयानक थी। कुछ बूँदें पड़ रही थीं। सलीम अभी सशंक होकर जाग रहा था। उसकी आँखें भविष्य का दृश्य देख रही थीं। घोड़ों के पद-शब्द धीरे-धीरे उस निर्जनता को भेदकर समीप आ रहे थे। सलीम ने किवाड़ खोलकर बाहर झाँका। अँधेरी उसके कलुष-सी फैल रही थी। वह ठठाकर हँस पड़ा।

भीतर नन्दराम और प्रेमा का स्नेहालाप बन्द हो चुका था। दोनों तन्द्रालस हो रहे थे। सहसा गोलियों की कड़कड़ाहट सुन पड़ी। सारे गाँव में आतंक फैल गया।

उन दस घरों में से जो भी कोई अस्त्र चला सकता था, बाहर निकल पड़ा। अस्सी वजीरियों का दल चारों ओर से गाँव को घेरे में करके भीषण गोलियों की बौछार कर रहा था।

अमीर और नन्दराम बगल में खड़े होकर गोली चला रहे थे। कारतूसों की परतल्ली उनके कन्धों पर थी। नन्दराम और अमीर दोनों के निशाने अचूक थे। अमीर ने देखा कि सलीम पागलों-सा घर में घुसा जा रहा है। वह भी भरी गोली चलाकर उसके पीछे नन्दराम के घर में घुसा। बीसों वजीरी मारे जा चुके थे। गाँववाले भी घायल और मृतक हो रहे थे। उधर नन्दराम की मार से वजीरियों ने मोर्चा छोड़ दिया था। सब भागने की धुन में थे। सहसा घर में से चिल्लाहट सुनाई पड़ी।

नन्दराम भीतर चला गया। उसने देखा; प्रेमा के बाल खुले हैं। उसके हाथ में रक्त से रंजित एक छुरा है। एक वजीरी वहीं घायल पड़ा है। और अमीर सलीम की छाती पर चढ़ा हुआ कमर से छुरा निकाल रहा है। नन्दराम ने कहा—'यह क्या है, अमीर?'

'चुप रहो भाई! इस पाजी को पहले...।

'ठहर अमीर! यह हम लोगों का शरणागत है।'—कहते हुए नन्दराम ने उसका छुरा छीन लिया; किन्तु दुर्दान्त युवक पठान कटकटाकर बोला—

'इस सूअर के हाथ! नहीं नन्दराम! तुम हट जाओ, नहीं तो मैं तुमको ही गोली मार दूँगा। मेरी बहन, पड़ोसिन का हाथ पकड़कर खींच रहा था। इसके हाथ...'

नन्दराम आश्चर्य से देख रहा था। अमीर ने सलीम की कलाई ककड़ी की तरह तोड़ ही दी। सलीम चिल्लाकर मूर्च्छित हो गया था। प्रेमा ने अमीर को पकड़कर खींच लिया। उसका रणचण्डी-वेश शिथिल हो गया था। सहज नारी-सुलभ दया का आविर्भाव हो रहा था। नन्दराम और अमीर बाहर आये।

वजीरी चले गये।

एक दिन टूटे हाथ को सिर से लगाकर जब प्रेमा को सलाम करते हुए सलीम उस गाँव से विदा हो रहा था, तब प्रेमा को न जाने क्यों उस अभागे पर ममता हो आयी। उसने कहा —'सलीम, तुम्हारे घर पर कोई और नहीं है, तो वहाँ जाकर क्या करोगे? यहीं पड़े रहो।'

सलीम रो रहा था। वह अब भी हिन्दुस्तान जाने के लिए इच्छुक नहीं था; परन्तु अमीर ने अकड़कर कहा—'प्रेमा! इसे जाने दे! इस गाँव में ऐसे पाजियों का काम नहीं।'

सलीम पेशावर में बहुत दिनों तक भीख माँगकर खाता और जीता रहा। उसके 'बुते-काफिर' वाले गीत को लोग बड़े चाव से सुनते थे।

नूरी

'ऐ; तुम कौन?'

'.........'

'बोलते नहीं?'

'.........'

'तो मैं बुलाऊँ किसी को—' कहते हुए उसने छोटा-सा मुँह खोला ही था कि युवक ने एक हाथ उसके मुँह पर रखकर उसे दूसरे हाथ से दबा लिया। वह विवश होकर चुप हो गयी। और भी, आज पहला ही अवसर था, जब उसने केसर, कस्तूरी और अम्बर से बसा हुआ यौवनपूर्ण उद्वेलित आलिंगन पाया था। उधर किरणें भी पवन के एक झोंके के साथ किसलयों को हटाकर घुस पड़ीं। दूसरे ही क्षण उस कुंज के भीतर छनकर आती हुई चाँदनी में जौहर से भरी कटार चमचमा उठी। भयभीत मृग-शावक-सी काली आँखें अपनी निरीहता में दया की, प्राणों की भीख माँग रही थीं। युवक का हाथ रुक गया। उसने मुँह पर उँगली रखकर चुप रहने का संकेत किया। नूरी काश्मीर की कली थी। सिकरी के महलों में उसके कोमल चरणों की नृत्य-कला प्रसिद्ध थी। उस कलिका का आमोद-मकरन्द अपनी सीमा में मचल रहा था। उसने समझा, कोई मेरा साहसी प्रेमी है, जो महाबली अकबर की आँख-मिचौली-क्रीड़ा के समय पतंगे-सा प्राण देने आ गया है। नूरी ने इस कल्पना के सुख में अपने को धन्य समझा और चुप रहने का संकेत पाकर युवक के मधुर अधरों पर अपने अधर रख दिये। युवक भी आत्म-विस्मृत-सा उस सुख में पल-भर के लिए तल्लीन हो गया। नूरी ने धीरे से कहा—'यहाँ से जल्द चले जाओ। कल बाँध पर पहले पहर की नौबत बजने के समय मौलसिरी के नीचे मिलूँगी।'

युवक धीरे-धीरे वहाँ से खिसक गया। नूरी शिथिल चरण से लड़खड़ाती हुई दूसरे कुंज की ओर चली; जैसे कई प्याले अंगूरी चढ़ा ली हो! उसकी जैसी कितनी ही सुन्दरियाँ अकबर को खोज रही थीं। आकाश का सम्पूर्ण चन्द्र इस खेल को देखकर हँस रहा था। नूरी अब

किसी कुंज में घुसने का साहस नहीं रखती थी। नरगिस दूसरे कुंज से निकलकर आ रही थी। उसने नूरी से पूछा—

'क्यों, उधर देख आयी?'

'नहीं, मुझे तो नहीं मिले।'

'तो फिर चल, इधर कामिनी के झाड़ों में देखूँ।'

'तू ही जा, मैं थक गयी हूँ।'

नरगिस चली गयी। मालती की झुकी हुई डाल की अंधेरी छाया में धड़कते हुए हृदय को हाथों में दबाये नूरी खड़ी थी! पीछे से किसी ने उसकी आँखों को बन्द कर लिया। नूरी की धड़कन और बढ़ गयी। उसने साहस से पूछा—

'मैं पहचान गयी!'

'.........'

'जहाँपनाह' उसके मुँह से निकला ही था कि अकबर ने उसका मुँह बन्द कर लिया और धीरे से उसके कानों में कहा—

'मरियम को बता देना, सुलताना को नहीं; समझी न! मैं उस कुंज में जाता हूँ।'

अकबर के जाने के बाद ही सुलताना वहाँ आयी। नूरी उसी की छत्रछाया में रहती थी; पर अकबर की आज्ञा! उसने दूसरी ओर सुलताना को बहका दिया। मरियम धीरे-धीरे वहाँ आयी। वह ईसाई बेगम उस आमोद-प्रमोद से परिचित न थी। तो भी यह मनोरंजन उसे अच्छा लगा। नूरी ने अकबरवाला कुंज उसे बता दिया।

घण्टों के बाद जब सब सुन्दरियाँ थक गयी थीं, तब मरियम का हाथ पकड़े अकबर बाहर आये। उस समय नौबतखाने से मीठी-मीठी सोहनी बज रही थी। अकबर ने एक बार नूरी को अच्छी तरह देखा। उसके कपोलों को थपथपाकर उसको पुरस्कार दिया। आँख-मिचौनी हो गयी!

सिकरी की झील जैसे लहरा रही है, वैसा ही आन्दोलन नूरी के हृदय में हो रहा है। वसन्त की चाँदनी में भ्रम हुआ कि उसका प्रेमी युवक आया है। उसने चौंककर देखा; किन्तु कोई नहीं था। मौलसिरी के नीचे बैठे हुए उसे एक घड़ी से अधिक हो गया। जीवन में आज पहले ही अभिसार का वह साहस कर सकी है। भय से उसका मन काँप रहा है; पर लौट जाने को मन नहीं चाहता। उत्कण्ठा और प्रतीक्षा कितनी पागल सहेलियाँ हैं! दोनों उसे उछालने लगीं।

किसी ने पीछे से आकर कहा—'मैं आ गया।'

नूरी ने घूमकर देखा, लम्बा-सा, गौर वर्ण का युवक उसकी बगल में खड़ा है। वह चाँदनी रात में उसे पहचान गयी। उसने कहा—'शाहजादा याकूब खाँ!'

'हाँ, मैं ही हूँ! कहो, तुमने क्यों बुलाया है?'

नूरी सन्नाटे में आ गयी। इस प्रश्न में प्रेम की गन्ध भी नहीं थी। वह भी महलों में रह चुकी थी। उसने भी पैंतरा बदल दिया।

'आप वहाँ क्यों गये थे?'

'मैं इसका जवाब न दूँ, तो?'

नूरी चुप रही। याकूब खाँ ने कहा—'तुम जानना चाहती हो?'

'न बताइये।'

'बताऊँ तो मुझे...'

'आप डरते हैं, तो न बताइये।'

'अच्छा, तो तुम सच बताओ कि कहाँ की रहनेवाली हो?'

'मैं काश्मीर में पैदा हुई हूँ।'

याकूब खाँ अब उसके समीप ही बैठ गया। उसने पूछा—'कहाँ!'

'श्रीनगर के पास ही मेरा घर है।'

'यहाँ क्या करती हो?'

'नाचती हूँ। मेरा नाम नूरी है।'

'काश्मीर जाने को मन नहीं करता?'

'नहीं।'

'क्यों?'

'वहाँ जाकर क्या करूँगी। सुलतान यूसुफ खाँ ने मेरा घर-बार छीन लिया है। मेरी माँ बेड़ियों में जकड़ी हुई दम तोड़ती होगी या मर गयी होगी।'

'मैं कहकर छुड़वा दूँगा, तुम यहाँ से चलो।'

'नहीं, मैं यहाँ से नहीं जा सकती, पर शाहजादा साहब, आप वहाँ क्यों गये थे, मैं जान गयी।'

'नूरी, तुम जान गयी हो, तो अच्छी बात है। मैं भी बेड़ियों में पड़ा हूँ। यहाँ अकबर के चंगुल में छटपटा रहा हूँ। मैं कल रात को उसी के कलेजे में कटार भोंक देने के लिए गया था।'

'शहंशाह को मारने के लिए—?' भय से चौंककर नूरी ने कहा।

'हाँ नूरी, वहाँ तुम न आतीं, तो मेरा काम न बिगड़ता। काश्मीर को हड़पने की उसकी...' याकूब रुककर पीछे देखने लगा। दूर कोई चला जा रहा था। नूरी भी उठ खड़ी हुई। दोनों और नीचे झील की ओर उतर गये। जल के किनारे बैठकर नूरी ने कहा—'अब ऐसा न करना।'

'क्यों न करूँ? मुझे काश्मीर से बढ़कर और कौन प्यारा है? मैं उसके लिए क्या नहीं कर सकता?' यह कहकर याकूब ने लम्बी साँस ली। उसका सुन्दर मुख वेदना से विवर्ण हो गया। नूरी ने देखा, वह प्यार की प्रतिमा है। उसके हृदय में प्रेम- लीला करने की वासना बलवती हो चली थी। फिर वह एकान्त और वसन्त की नशीली रात! उसने कहा—'आप चाहे काश्मीर को प्यार करते हों, पर कुछ लोग ऐसे भी हो सकते हैं, जो आपको प्यार करते हों!'

'पागल! मेरे सामने एक ही तस्वीर है। फूलों से भरी, फलों से लदी हुई, सिन्ध और झेलम की घाटियों की हरियाली! मैं इस प्यार को छोड़कर दूसरी ओर...?'

'चुप रहिए शाहजादा साहब! आप धीरे से नहीं बोल सकते, तो चुप रहिए।'

यह कहकर नूरी ने एक बार फिर पीछे की ओर देखा। वह चंचल हो रही थी, मानो आज ही उसके वसन्त-पूर्ण यौवन की सार्थकता है और वह विद्रोही युवक सम्राट अकबर के प्राण लेने और अपने प्राण देने पर तुला है। कहते हैं कि तपस्वी को डिगाने के लिए स्वर्ग की अप्सराएँ आती हैं। आज नूरी अप्सरा बन रही थी। उसने कहा—'तो मुझे काश्मीर ले चलिएगा?' याकूब के समीप और सटकर भयभीत-सी होकर वह बोली—'बोलिये, मुझे ले चलिएगा? मैं भी इन सुनहरी बेड़ियों को तोड़ना चाहती हूँ।'

'तुम मुझको प्यार करती हो नूरी?'

'दोनों लोकों से बढ़कर।' नूरी उन्मादिनी हो रही थी।

'पर मुझे तो अभी एक बार फिर वही करना है, जिसके लिए तुम मना करती हो। बच जाऊँगा, तो देखा जाएगा!'—यह कहकर याकूब ने उसका हाथ पकड़ लिया। नूरी नीचे से ऊपर तक घबराने लगी। उसने अपना सुन्दर मुख याकूब के कन्धे पर रखकर कहा—'नहीं, अब ऐसा न करो, तुमको मेरी कसम!'

सहसा चौंककर युवक फुर्ती से उठ खड़ा हुआ। और नूरी जब तक संभली, तब तक याकूब वहाँ न था। अभी नूरी दो पग भी बढ़ाने न पायी थी कि मादम तातारी का कठोर हाथ उसके कन्धों पर आ पहुँचा। तातारी ने कहा—'सुलताना तुमको कब से खोज रही है?'

सुलताना बेगम और बादशाह चौसरी खेल रहे थे। उधर पचीसी के मैदान में सुन्दरियाँ गोटें बनकर चाल चल रही थीं। नौबतखाने से पहले पहर की सुरीली शहनाई बज रही थी। नगाड़े पर अकबर की बाँधी हुई गति में लड़की थिरक रही थी, जिसकी धुन में अकबर चाल भूल गये। उनकी गोट पिट गयी।

पिटी हुई गोट दूसरी न थी, वह थी नूरी। उस दिन की थपकियों ने उसको साहसी बना दिया था। वह मचलती हुई बिसात के बाहर तिवारी में चली आयी। पाँसे हाथ में लिये हुए अकबर उसकी ओर देखने लगे। नूरी ने अल्हड़पन से कहा—'तो मैं मर गयी?'

'तू जीती रह, मरेगी क्यों?' फिर दक्षिण नायक की तरह उसको मनोरंजन करने में चतुर अकबर ने सुलताना की ओर देखकर कहा—'इसका नाम क्या है?' मन में सोच रहे थे, उस रात की आँख-मिचौली वाली घटना!

'यह काश्मीर की रहने वाली है। इसका नाम नूरी है। बहुत अच्छा नाचती है।'—सुलताना ने कहा।

'मैंने तो कभी नहीं देखा।'

'तो देखिए न।'

'नूरी! तू इसी शहनाई की गत पर नाच सकेगी?'

'क्यों नहीं जहाँपनाह?'

गोटें अपने-अपने घर में जहाँ-की-तहाँ बैठी रहीं। नूरी का वासना और उन्माद से भरा

हुआ नृत्य आरम्भ हुआ। उसके नूपुर खुले हुए बोल रहे थे। वह नाचने लगी, जैसे जलतरंग। वागीश्वरी के विलम्बित स्वरों में अंगों के अनेक मरोड़ों के बाद जब कभी वह चुन-चुनकर एक-दो घुँघरू बजा देती, तब अकबर 'वाह! वाह!' कह उठता। घड़ी-भर नाचने के बाद जब शहनाई बन्द हुई, तब अकबर ने उसे बुलाकर कहा—'नूरी! तू कुछ चाहती है?'

'नहीं, जहाँपनाह!'

'कुछ भी?'

'मैं अपनी माँ को देखना चाहती हूँ! छुट्टी मिले, तो!'—सिर नीचे किये हुए नूरी ने कहा।

'दत्—और कुछ नहीं?'

'और कुछ नहीं।'

'अच्छा, तो जब मैं काबुल चलने लगूँगा, तब तू भी वहाँ चल सकेगी।'

फिर गोटें चलने लगीं। खेल होने लगा। सुलताना और शहंशाह दोनों ही इस चिन्ता में थे कि दूसरा हारे। यही तो बात है, संसार चाहता है कि तुम मेरे साथ खेलो, पर सदा तुम्हीं हारते रहो। नूरी फिर गोट बन गयी थी। अब की वही फिर पिटी। उसने कहा—'मैं मर गयी।'

अकबर ने कहा—'तू अलग जा बैठ।' छुट्टी पाते ही थकी हुई नूरी पचीसी के समीप अमराई में जा घुसी। अभी वह नाचने की थकावट से अँगड़ाई ले रही थी कि सहसा याकूब ने आकर उसे पकड़ लिया। उसके शिथिल सुकुमार अंगों को दबाकर उसने कहा—'नूरी, मैं तुम्हारे प्यार को लौटा देने के लिए आया हूँ।'

व्याकुल होकर नूरी ने कहा—'नहीं, नहीं, ऐसा न करो।'

'मैं आज मरने-मारने पर तुला हूँ।'

'तो क्या तुम आज फिर उसी काम के लिए...'

'हाँ नूरी!'

'नहीं, शाहजादा याकूब! ऐसा न करो। मुझे आज शहंशाह ने काश्मीर जाने की छुट्टी दे दी है। मैं तुम्हारे साथ भी चल सकती हूँ।'

'पर मैं वहाँ न जाऊंगा। नूरी! मुझे भूल जाओ।'

नूरी उसे अपने हाथों में जकड़े थी; किन्तु याकूब का देश-प्रेम उसकी प्रतिज्ञा की पूर्ति माँग रहा था। याकूब ने कहा—'नूरी! अकबर सिर झुकाने से मान जाए सो नहीं। वह तो झुके सिर पर भी चढ़ बैठना चाहता है। मुझे छुट्टी दो। मैं यही सोचकर सुख से मर सकूँगा कि कोई मुझे प्यार करता है।'

नूरी सिसककर रोने लगी। याकूब का कन्धा उसके आँसुओं की धारा से भीगने लगा। अपनी कठोर भावनाओं से उन्मत्त और विद्रोही युवक शाहजादा ने बलपूर्वक अभी अपने को रमणी के बाहुपाश से छुड़ाया ही था कि चार तातारी दासियों ने अमराई के अँधकार से निकलकर दोनों को पकड़ लिया।

अकबर की बिसात अभी बिछी थी। पासे अकबर के हाथ में थे। दोनों अपराधी सामने लाये गये। अकबर ने आश्चर्य से पूछा—'याकूब खाँ?'

याकूब के नतमस्तक की रेखाएँ ऐंठी जा रही थीं। वह चुप था। फिर नूरी की ओर देखकर शहंशाह ने कहा—'तो इसीलिए तू काश्मीर जाने की छुट्टी माँग रही थी?'

वह भी चुप।

'याकूब तुम्हारा यह लड़कपन यूसुफ खाँ भी न सहते; लेकिन मैं तुम्हें छोड़ देता हूँ। जाने की तैयारी करो। मैं काबुल से लौटकर काश्मीर आऊँगा।'

संकेत पाते ही तातारियाँ याकूब को ले चलीं। नूरी खड़ी रही। अकबर ने उसकी ओर देखकर कहा—'इसे बुर्ज में ले जाओ।'

नूरी बुर्ज के तहखाने में बन्दिनी हुई।

अट्ठारह बरस बाद!

जब अकबर की नवरत्न-सभा उजड़ चुकी थी, उसके प्रताप की ज्योति आनेवाले अन्तिम दिन की उदास और धुँधली छाया में विलीन हो रही थी, हिन्दू और मुस्लिम-एकता का उत्साह शीतल हो रहा था, तब अकबर को अपने पुत्र सलीम से भी भय उत्पन्न हुआ। सलीम ने अपनी स्वतन्त्रता की घोषणा की थी, इसीलिए पिता-पुत्र में मेल होने पर भी आगरा में रहने के लिए सलीम को जगह नहीं थी। उसने दुखी होकर अपनी जन्मभूमि में रहने की आज्ञा माँगी।

सलीम फतहपुर-सीकरी आया। मुगल साम्राज्य का वह अलौकिक इन्द्रजाल! अकबर की यौवन-निशा का सुनहरा स्वप्न—सीकरी का महल-पथरीली चट्टानों पर बिखरा पड़ा था। इतना आकस्मिक उत्थान और पतन! जहाँ एक विश्वजनीन धर्म की उत्पत्ति की सूचना हुई, जहाँ उस धर्मान्धता के युग में एक छत के नीचे ईसाई, पारसी, जैन, इस्लाम और हिन्दू आदि धर्मों पर वाद-विवाद हो रहा था, जहाँ सन्त सलीम की समाधि थी, जहाँ शाह सलीम का जन्म हुआ था, वहीं अपनी अपूर्णता और खँडहरों से अस्त-व्यस्त सीकरी का महल अकबर के जीवनकाल में ही, निर्वासिता सुन्दरी की तरह दया का पात्र, श्रृंगारविहीन और उजाड़ पड़ा था। अभी तक अकबर के शून्य शयन-मन्दिर में विक्रमादित्य के नवरत्नों का छाया-पूर्ण अभिनय चल रहा था। अभी तक सराय में कोई यात्री सन्त की समाधि का दर्शन करने को आता ही रहता! अभी तक बुर्जों के तहखानों में कैदियों का अभाव न था!

सीकरी की दशा देखकर सलीम का हृदय व्यथित हो उठा। अपूर्व शिल्प बिलख रहे थे। गिरे हुए कँगूरे चरणों में लौट रहे थे। अपनी माता के महल में जाकर भरपेट रोया। वहाँ जो इने-गिने दास और दासियाँ और उनके दारोगे बच रहे थे, भिखमंगों की-सी दशा में फटे चीथड़ों में उसके सामने आये। सब समाधि के लंगर-खाने से भोजन पाते थे। सलीम ने समाधि का दर्शन करके पहली आज्ञा दी कि तहखानों में जितने बन्दी हैं, सब छोड़ दिये जाएँ। सलीम को मालूम था कि यहाँ कोई राजनैतिक बन्दी नहीं है। दुर्गन्ध से सने हुए कितने ही नर-कंकाल सन्त सलीम की समाधि पर आकर प्रसन्नता से हिचकी लेने लगे और युवराज सलीम के चरणों को चूमने लगे।

उन्हीं में एक नूरी भी थी। उसका यौवन कारागार की कठिनाइयों से कुचल गया था। सौन्दर्य अपने दो-चार रेखा-चिह्न छोड़कर समय के साथ पंखों पर बैठकर उड़ गया था।

सब लोगों की जीविका बँटने लगी। लंगर-खाने का नया प्रबन्ध हुआ। उसमें से नूरी को सराय में आये हुए यात्रियों को भोजन देने का कार्य मिला।

वैशाख की चाँदनी थी। झील के किनारे मौलसिरी के नीचे कव्वालों का जमघट था। लोग मस्ती में झूम-झूमकर गा रहे थे।

'मैंने अपने प्रियतम को देखा था।'

'वह सौन्दर्य, मदिरा की तरह नशीला, चादँनी-सा उज्ज्वल तरंगों-सा यौवनपूर्ण और अपनी हँसी-सा निर्मल था।'

'किन्तु हलाहल भरी उसकी अपांगधारा! आह निर्दय!'

'मरण और जीवन का रहस्य उन संकेतों में छिपा था।'

'आज भी न जाने क्यों भूलने में असमर्थ हूँ।'

'कुंजों में फूलों के झुरमुट में तुम छिप सकोगे। तुम्हारा वह चिर विकासमय सौन्दर्य! वह दिगन्तव्यापी सौरभ! तुमको छिपने देगा?'

'मेरी विकलता को देखकर प्रसन्न होनेवाले! मैं बलिहारी!'

नूरी वहीं खड़ी होकर सुन रही थी। वह कव्वालों के लिए भोजन लिवाकर आयी थी। गाढ़े का पाजामा और कुर्त्ता उस पर गाढ़े की ओढ़नी। उदास और दयनीय मुख पर निरीहता की शान्ति! नूरी में विचित्र परिवर्तन था। उसका हृदय अपनी विवश पराधीनता भोगते-भोगते शीतल और भगवान की करुणा का अवलम्बी बन गया था। जब सन्त सलीम की समाधि पर वह बैठकर भगवान की प्रार्थना करती थी, तब उसके हृदय में किसी प्रकार की सांसारिक वासना या अभाव-अभियोग का योग न रहता।

आज न जाने क्यों, इस संगीत ने उसकी सोई हुई मनोवृत्ति को जगा दिया। वही मौलसिरी का वृक्ष था। संगीत का वह अर्थ चाहे किसी अज्ञात लोक की परम सीमा तक पहुँचता हो; किन्तु आज तो नूरी अपने संकेतस्थल की वही घटना स्मरण कर रही थी, जिसमें एक सुन्दर युवक से अपने हृदय की बातों को खोल देने का रहस्य था।

वह काश्मीर का शाहजादा आज कहाँ होगा? नूरी ने चंचल होकर वहीं थालों को रखवा दिया और स्वयं धीरे-धीरे अपने उत्तेजित हृदय को दबाये हुए सन्त की समाधि की ओर चल पड़ी।

संगमरमर की जालियों से टिककर वह बैठ गयी। सामने चन्द्रमा की किरणों का समारोह था। वह ध्यान में निमग्न थी। उसकी निश्चल तन्मयता के सुख को नष्ट करते हुए किसी ने कहा—'नूरी! क्या अभी सराय में खाना न जाएगा?'

वह सावधान होकर उठ खड़ी हुई। लंगर-खाने से रोटियों का थाल लेकर सराय की ओर चल पड़ी। सराय के फाटक पर पहुँचकर वह निराश्रित भूखों को खोज-खोजकर रोटियाँ देने लगी।

एक कोठरी के समीप पहुँचकर उसने देखा कि एक युवक टूटी हुई खाट पर पड़ा कराह रहा है। उसने पूछा—'क्या है? भाई, तुम बीमार हो क्या? मैं तुम्हारे लिए कुछ कर सकती हूँ तो बताओ।'

'बहुत कुछ।'—टूटे स्वर से युवक ने कहा।

नूरी भीतर चली गयी। उसने कहा—'क्या है, कहिये?'

'पास में पैसा न होने से ये लोग मेरी खोज नहीं लेते। आज सवेरे से मैंने जल नहीं पिया। पैर इतने दुख रहे हैं कि मैं उठ नहीं सकता।'

'कुछ खाया भी न होगा।'

'कल रात को यहाँ पहुँचने पर थोड़ा-सा खा लिया था। पैदल चलने से पैर सूज आये हैं, तब से यों ही पड़ा हूँ।'

नूरी थाल रखकर बाहर चली गयी। पानी लेकर आयी। उसने कहा—'लो, अब उठकर कुछ रोटियाँ खाकर पानी पी लो।'

युवक उठ बैठा। कुछ अन्न-जल पेट में जाने के बाद जैसे उसे चेतना आ गयी। उसने पूछा—'तुम कौन हो?

'मैं लंगर-खाने से रोटियाँ बाँटती हूँ। मेरा नाम नूरी है। जब तक तुम्हारी पीड़ा अच्छी न होगी, मैं तुम्हारी सेवा करूँगी। रोटियाँ पहुँचाऊँगी। जल रख जाऊँगी। घबराओ नहीं। वह मालिक सबको देखता है।'

युवक की विवर्ण आँखें प्रार्थना में ऊपर की ओर उठ गयीं। फिर दीर्घ निःश्वास लेकर पूछा—'क्या नाम बताया? नूरी न?'

'हाँ, यही तो!'

'अच्छा, तुम यहाँ महलों में जाती होगी।'

'महल! हाँ, महलों की दीवारें तो खड़ी हैं।'

'तब तुम नहीं जानती होगी। उसका भी नाम नूरी था! वह काश्मीर की रहनेवाली थी'।

'उससे आपको क्या काम है?'—मन-ही-मन काँपकर नूरी ने पूछा।

'मिले तो कह देना कि एक अभागे ने तुम्हारे प्यार को ठुकरा दिया था। वह काश्मीर का शाहजादा था, पर अब तो भिखमंगे से भी...'—कहते-कहते उसकी आँखों से आँसू बहने लगे।

नूरी ने उसके आँसू पोंछकर पूछा—'क्या अब भी उससे मिलने को मन करता है?'

वह सिसककर कहने लगा—'मेरा नाम याकूब खाँ है। मैंने अकबर के सामने तलवार उठाई और लड़ा भी। जो कुछ मुझसे हो सकता था, वह काश्मीर के लिए मैंने किया। इसके बाद बिहार के भयानक तहखाने में बेड़ियों से जकड़ा हुआ कितने दिनों तक पड़ा रहा। सुना है कि सुलतान सलीम ने वहाँ के अभागों को फिर से धूप देखने के लिए छोड़ दिया है। मैं वहीं से ठोकरें खाता हुआ चला आ रहा हूँ। हथकड़ियों से छूटने पर किसी अपने प्यार करनेवाले को देखना चाहता था। इसी से सीकरी चला आया। देखता हूँ कि मुझे वह भी न मिलेगा।'

याकूब अपनी उखड़ी हुई साँसों को संभालने लगा था और नूरी के मन में विगत काल की घटना, अपने प्रेम-समर्पण का उत्साह, फिर उस मनस्वी युवक की अवहेलना सजीव हो उठी।

आज जीवन का क्या रूप होता? आशा से भरी संसार-यात्रा किस सुन्दर विश्राम-भवन में पहुँचाती? अब तक संसार के कितने सुन्दर रहस्य फूलों की तरह अपनी पंखुड़ियाँ खोल चुके होते? अब प्रेम करने का दिन तो नहीं रहा। हृदय में इतना प्यार कहाँ रहा, जो दूँगी, जिससे यह ठूँठ हरा हो जाएगा। नहीं। नूरी ने मोह का जाल छिन्न कर दिया है। वह अब उसमें न पड़ेगी। तो भी इस दयनीय मनुष्य की सेवा; किन्तु यह क्या? याक़ूब हिचकियाँ ले रहा था। उसकी पुकार का सन्तोषजनक उत्तर नहीं मिला। निर्मम-हृदय नूरी ने विलम्ब कर दिया। वह विचार करने लगी थी और याक़ूब को इतना अवसर नहीं था!

नूरी उसका सिर हाथों पर लेकर उसे लिपटाने लगी। साथ ही अभागे याक़ूब के खुले हुए प्यासे मुँह में नूरी के आँसू टपाटप गिरने लगे।

गुण्डा

वह पचास वर्ष से ऊपर था। तब भी युवकों से अधिक बलिष्ठ और दृढ़ था। चमड़े पर झुर्रियाँ नहीं पड़ी थीं। वर्षा की झड़ी में, पूस की रातों की छाया में, कड़कती हुई जेठ की धूप में, नंगे शरीर घूमने में वह सुख मानता था। उसकी चढ़ी मूँछें बिच्छू के डंक की तरह, देखनेवालों की आँखों में चुभती थीं। उसका साँवला रंग, साँप की तरह चिकना और चमकीला था। उसकी नागपुरी धोती का लाल रेशमी किनारा दूर से ही ध्यान आकर्षित करता। कमर में बनारसी सेल्हे का फेंटा, जिसमें सीप की मूठ का बिछुआ खुँसा रहता था। उसके घुँघराले बालों पर सुनहले पल्ले के साफे का छोर उसकी चौड़ी पीठ पर फैला रहता। ऊँचे कन्धे पर टिका हुआ चौड़ी धार का गँडासा, यह थी उसकी धज! पंजों के बल जब वह चलता, तो नसें चटाचट बोलती थीं। वह गुण्डा था।

ईसा की अठारहवीं शताब्दी के अंतिम भाग में वही काशी नहीं रह गयी थी, जिसमें उपनिषद् के अजातशत्रु की परिषद् में ब्रह्मविद्या सीखने के लिए विद्वान् ब्रह्मचारी आते थे। गौतम बुद्ध और शंकराचार्य के धर्म-दर्शन के वाद-विवाद, कई शताब्दियों से लगातार मन्दिरों और मठों के ध्वंस और तपस्वियों के वध के कारण प्राय: बन्द-से हो गये थे, यहाँ तक कि पवित्रता और छुआछूत में कट्टर वैष्णव धर्म भी उस विश्रृंखलता में, नवागन्तुक धर्मोन्माद में अपनी असफलता देखकर काशी में अघोर रूप धारण कर रहा था। उसी समय समस्त न्याय और बुद्धिवाद को शस्त्र-बल के सामने झुकते देखकर काशी के विच्छिन्न और निराश नागरिक जीवन ने एक नवीन सम्प्रदाय की सृष्टि की। वीरता जिसका धर्म था। अपनी बात पर मिटना, सिंह-वृत्ति से जीविका ग्रहण करना, प्राण-भिक्षा माँगनेवाले कायरों तथा चोट खाकर गिरे हुए प्रतिद्वन्द्वी पर शस्त्र न उठाना, सताये निर्बलों को सहायता देना और प्रत्येक क्षण प्राणों को हथेली पर लिए घूमना, उसका बाना था। उन्हें लोग काशी में गुण्डा कहते थे।

जीवन की किसी अलभ्य अभिलाषा से वंचित होकर जैसे प्राय: लोग विरक्त हो जाते हैं, ठीक उसी तरह किसी मानसिक चोट से घायल होकर, एक प्रतिष्ठित जमींदार का पुत्र होने

पर भी, नन्हकूसिंह गुण्डा हो गया था। दोनों हाथों से उसने अपनी संपत्ति लुटायी। नन्हकूसिंह ने बहुत-सा रुपया खर्च करके जैसा स्वाँग खेला था, उसे काशीवाले बहुत दिनों तक नहीं भूल सके। वसन्त ऋतु में यह प्रहसनपूर्ण अभिनय खेलने के लिए उन दिनों प्रचुर धन, बल, निर्भीकता और उच्छृंखलता की आवश्यकता होती थी। एक बार नन्हकूसिंह ने भी एक पैर में नुपूर, एक हाथ में तोड़ा, एक आँख में काजल, एक कान में हजारों के मोती तथा दूसरे कान में फटे हुए जूतों का तल्ला लटकाकर, एक में जड़ाऊ मूठ की तलवार, दूसरा हाथ आभूषणों से लदी हुई अभिनय करनेवाली प्रेमिका के कन्धे पर रखकर गाया था—

'कहीं बैगनवाली मिले तो बुला देना।'

प्राय: बनारस के बाहर की हरियालियों में, अच्छे पानीवाले कुओं पर गंगा की धारा में मचलती हुई डोंगी पर वह दिखलाई पड़ता था। कभी-कभी जुआखाने से निकलकर जब वह चौक में आ जाता, तो काशी की रँगीली वेश्याएँ मुस्कराकर उसका स्वागत करतीं और उसके दृढ़ शरीर को सस्पृह देखतीं। वह तमोली की ही दुकान पर बैठकर गीत सुनाता, ऊपर कभी नहीं जाता था। जुए की जीत का रुपया मुट्ठियों में भर-भरकर, उनकी खिड़की में वह इस तरह उछालता कि कभी-कभी समाजी लोग अपना सिर सहलाते, तब वह ठठाकर हँस देता। जब कभी लोग कोठे में ऊपर चलने के लिए कहते, तो वह उदासी की साँस खींचकर चुप हो जाता।

वह अभी वंशी के जुआखाने से निकला था। आज उसकी कौड़ी ने साथ न दिया। सोलह परियों के नृत्य में उसका मन न लगा। मन्नू तमोली की दुकान पर बैठते हुए उसने कहा —'आज सायत अच्छी नहीं रही, मन्नू!'

'क्यों मालिक! चिन्ता किस बात की है। हम लोग किस दिन के लिए हैं। सब आप ही का तो है।'

'अरे, बुद्धू ही रहे तुम! नन्हकूसिंह जिस दिन किसी से लेकर जुआ खेलने लगे, उसी दिन समझना वह मर गये। तुम जानते नहीं कि मैं जुआ खेलने कब जाता हूँ। जब मेरे पास पैसा नहीं रहता; उसी दिन नाले पर पहुँचते ही जिधर बड़ी ढेरी रहती है, उसी को दबाता हूँ और फिर वही दाँव आता भी है। बाबा कीनाराम का यह वरदान है!'

'तब आज क्यों, मालिक?'

'पहला दाव तो आया ही, फिर दो-चार हाथ बदले पर सब निकल गया। तब भी लो, यह पाँच रुपये बचे हैं। एक रुपया तो पान के लिए रख लो और चार दे दो मलूकी कथक को, कह दो कि दुलारी से गाने के लिए कह दे। हाँ, वही एक गीत—

'विलमि विदेस रहे।'

नन्हकूसिंह की बात सुनते ही मलूकी, जो अभी गाँजे की चिलम पर रखने के लिए अँगारा चूर कर रहा था, घबराकर उठ खड़ा हुआ। वह सीढ़ियों पर दौड़ता हुआ चढ़ गया। चिलम को देखता ही ऊपर चढ़ा, इसलिए उसे चोट भी लगी; पर नन्हकूसिंह की भृकुटि देखने की शक्ति उसमें कहाँ। उसे नन्हकूसिंह की वह मूर्ति न भूली थी, जब इसी पान की दुकान पर जुएखाने से जीता हुआ, रुपये से भरा तोड़ा लिए वह बैठा था। दूर से बोधीसिंह

की बारात का बाजा बजता हुआ आ रहा था। नन्हकू ने पूछा—'यह किसकी बारात है?'

'ठाकुर बोधीसिंह के लड़के की।'—मन्नू के इतना कहते ही नन्हकू के ओठ फड़कने लगे। उसने कहा—'मन्नू! यह नहीं हो सकता। आज इधर से बारात न जाएगी। बोधीसिंह हमसे निपटकर तब बारात इधर से ले जा सकेंगे।'

मन्नू ने कहा—'तब मालिक मैं क्या करूँ?'

नन्हकू गँडासा कन्धे पर से और ऊँचा करके मलूकी से बोला—'मलुकिया देखता है, अभी जा ठाकुर से कह दे, कि बाबू नन्हकूसिंह आज यहीं लगाने के लिए खड़े हैं। समझकर आवें, लड़के की बारात है।' मलुकिया काँपता हुआ ठाकुर बोधीसिंह के पास गया। बोधीसिंह का नन्हकू से पाँच वर्ष से सामना नहीं हुआ है। किसी दिन नाले पर कुछ बातों में ही कहा-सुनी होकर, बीच-बचाव हो गया था। फिर सामना नहीं हो सका। आज नन्हकू जान पर खेलकर अकेले खड़ा है। बोधीसिंह भी उस आन को समझते थे। उन्होंने मलूकी से कहा —'जा बे, कह दे कि हमको क्या मालूम कि बाबू साहब वहाँ खड़े हैं। जब वह हैं ही, तो दो समधी जाने का क्या काम है।' बोधीसिंह लौट गये और मलूकी के कन्धे पर तोड़ा लादकर बाजे के आगे नन्हकूसिंह बारात लेकर गये। ब्याह में जो कुछ लगा, खर्च किया। ब्याह कराकर तब, दूसरे दिन इसी दुकान तक आकर रुक गये। लड़के को और उसकी बारात को उसके घर भेज दिया।

मलूकी को भी दस रुपया मिला था उस दिन। फिर नन्हकूसिंह की बात सुनकर बैठा रहना और यम को न्योता देना एक ही बात थी। उसने जाकर दुलारी से कहा—'हम ठेका लगा रहे हैं, तुम गाओ, तब तक बल्लू सारंगीवाला पानी पीकर आता है।'

'बाप रे, कोई आफत आयी है क्या बाबू साहब?' सलाम।—कहकर खिड़की से मुस्कराकर झाँका था कि नन्हकूसिंह उसके सलाम का जवाब देकर, दूसरे एक आनेवाले को देखने लगे।

हाथ में हरौती की पतली-सी छड़ी, आँखों में सुरमा, मुँह में पान, मेंहदी लगी हुई लाल दाढ़ी, जिसकी सफेद जड़ दिखलाई पड़ रही थी, कुव्वेदार टोपी, छकलिया अँगरखा और साथ में लैसदार परतवाले दो सिपाही! कोई मौलवी साहब हैं। नन्हकू हँस पड़ा। नन्हकू की ओर बिना देखे ही मौलवी ने एक सिपाही से कहा—'जाओ, दुलारी से कह दो कि आज रेजीडेण्ट साहब की कोठी पर मुजरा करना होगा, अभी चले, देखो तब तक हम जानअली से कुछ इत्र ले रहे हैं।' सिपाही ऊपर चढ़ रहा था और मौलवी दूसरी ओर चले थे कि नन्हकू ने ललकारकर कहा—'दुलारी! हम कब तक यहाँ बैठे रहें! क्या अभी सरंगिया नहीं आया?'

दुलारी ने कहा—'वाह बाबू साहब! आप ही के लिए तो मैं यहाँ आ बैठी हूँ सुनिये न! आप तो कभी ऊपर...' मौलवी जल उठा। उसने कड़ककर कहा—'चोबदार! अभी वह सूअर की बच्ची उतरी नहीं। जाओ, कोतवाल के पास मेरा नाम लेकर कहो कि मौलवी अलाउद्दीन कुबरा ने बुलाया है। आकर उसकी मरम्मत करें। देखता हूँ तो जब से नवाबी गयी, इन काफिरों की मस्ती बढ़ गयी है।'

कुबरा मौलवी! 'बाप रे—तमोली अपनी दुकान सम्भालने लगा। पास ही एक दुकान

पर बैठकर ऊँघता हुआ बजाज चौंककर सिर में चोट खा गया!' इसी मौलवी ने तो महाराज चेतसिंह से साढ़े तीन सेर चींटी के सिर का तेल माँगा था। मौलवी अलाउद्दीन कुबरा! बाजार में हलचल मच गयी। नन्हकूसिंह ने मन्नू से कहा—'क्यों, चुपचाप बैठोगे नहीं!' दुलारी से कहा—'वहीं से बाईजी! इधर-उधर हिलने का काम नहीं। तुम गाओ। हमने ऐसे घसियारे बहुत-से देखे हैं। अभी कल रमल के पासे फेंककर अधेला- अधेला माँगता था, आज चला है रौब गाँठने।'

अब कुबरा ने घूमकर उसकी ओर देखकर कहा—'कौन है यह पाजी!'

'तुम्हारे चाचा बाबू नन्हकूसिंह!' उत्तर के साथ ही पूरा बनारसी झापड़ पड़ा। कुबरा का सिर घूम गया। लैस के परत वाले सिपाही दूसरी ओर भाग चले और मौलवी साहब चौंधियाकर जानअली की दुकान पर लड़खड़ाते, गिरते-पड़ते किसी तरह पहुँच गये।

जानअली ने मौलवी से कहा—'मौलवी साहब! भला आप भी उस गुण्डे के मुँह लगने लगे। यह तो कहिये कि उसने गँडासा नहीं तौल दिया।' कुबरा के मुँह से बोली नहीं निकल रही थी। उधर दुलारी गा रही थी '...विलमि विदेस रहे...' गाना पूरा हुआ, कोई आया-गया नहीं। तब नन्हकूसिंह धीरे-धीरे टहलता हुआ, दूसरी ओर चला गया। थोड़ी देर में एक डोली रेशमी परदे से ढँकी हुई आयी। साथ में एक चोबदार भी था। उसने दुलारी को राजमाता पन्ना की आज्ञा सुनायी।

दुलारी चुपचाप डोली पर जा बैठी। डोली धूल और सन्ध्याकाल के धुएँ से भरी हुई बनारस की तंग गलियों से होकर शिवालय घाट की ओर चली।

श्रावण का अंतिम सोमवार था। राजमाता पन्ना शिवालय में बैठकर पूजन कर रही थीं। दुलारी बाहर बैठी कुछ अन्य गानेवालियों के साथ भजन गा रही थी। आरती हो जाने पर फूलों की अंजलि बिखेरकर पन्ना ने भक्तिभाव से देवता के चरणों में प्रणाम किया। फिर प्रसाद लेकर बाहर आते ही उन्होंने दुलारी को देखा। उसने खड़ी होकर हाथ जोड़ते हुए कहा—'मैं पहले ही पहुँच जाती। क्या करूँ, वह कुबरा मौलवी निगोड़ा आकर रेजीडेण्ट की कोठी पर ले जाने लगा। घण्टों इसी झंझट में बीत गया, सरकार!'

'कुबरा मौलवी! जहाँ सुनती हूँ, उसी का नाम। सुना है कि उसने यहाँ भी आकर कुछ...'—फिर न जाने क्या सोचकर बात बदलते हुए पन्ना ने कहा—'हाँ तब फिर क्या हुआ? तुम कैसे यहाँ आ सकीं?'

'बाबू नन्हकूसिंह उधर आ गये।' मैंने कहा—'सरकार की पूजा पर मुझे भजन गाने को जाना है और यह जाने नहीं दे रहा है। उन्होंने मौलवी को ऐसा झापड़ लगाया कि उसकी हेकड़ी भूल गई और तब जाकर मुझे किसी तरह यहाँ आने की छुट्टी मिली।'

'कौन बाबू नन्हकूसिंह!'

दुलारी ने सिर नीचा करके कहा—'अरे, क्या सरकार को नहीं मालूम? बाबू निरंजनसिंह के लड़के! उस दिन, जब मैं बहुत छोटी थी, आपकी बारी में झूला झूल रही थी,

जब नवाब का हाथी बिगड़कर आ गया था, बाबू निरंजनसिंह के कुँवर ने ही तो उस दिन लोगों की रक्षा की थी।'

राजमाता का मुख उस प्राचीन घटना को स्मरण करके न जाने क्यों विवर्ण हो गया। फिर अपने को सँभालकर उन्होंने पूछा—'तो बाबू नन्हकूसिंह उधर कैसे आ गये?'

दुलारी ने मुस्कराकर सिर नीचा कर लिया! दुलारी राजमाता पन्ना के पिता की जमींदारी में रहनेवाली वेश्या की लड़की थी। उसके साथ ही कितनी बार झूले-हिंडोले अपने बचपन में पन्ना झूल चुकी थी। वह बचपन से ही गाने में सुरीली थी। सुन्दरी होने पर चंचल भी थी। पन्ना जब काशीराज की माता थी, तब दुलारी काशी की प्रसिद्ध गानेवाली थी। राजमहल में उसका गाना-बजाना हुआ करता। महाराज बलवन्तसिंह के समय से ही संगीत पन्ना के जीवन का आवश्यक अंश था। हाँ, अब प्रेम-दु:ख और दर्द-भरी विरह-कल्पना के गीत की ओर अधिक रुचि न थी। अब सात्विक भावपूर्ण भजन होता था। राजमाता पन्ना का वैधव्य से दीप्त शान्त मुख-मण्डल कुछ मलिन हो गया।

बड़ी रानी की सापत्न्य ज्वाला बलवन्तसिंह के मर जाने पर भी नहीं बुझी। अन्तःपुर कलह का रंगमंच बना रहता, इसी से प्राय: पन्ना काशी के राजमन्दिर में आकर पूजा-पाठ में अपना मन लगाती। रामनगर में उसको चैन नहीं मिलता। नयी रानी होने के कारण बलवन्तसिंह की प्रेयसी होने का गौरव तो उसे था ही, साथ में पुत्र उत्पन्न करने का सौभाग्य भी मिला, फिर भी असवर्णता का सामाजिक दोष उसके हृदय को व्यथित किया करता। उसे अपने ब्याह की आरम्भिक चर्चा का स्मरण हो आया।

छोटे-से मंच पर बैठी, गंगा की उमड़ती हुई धारा को पन्ना अन्यमनस्क होकर देखने लगी। उस बात को, जो अतीत में एक बार, हाथ से अनजाने में खिसक जानेवाली वस्तु की तरह गुप्त हो गयी हो; सोचने का कोई कारण नहीं। उससे कुछ बनता-बिगड़ता भी नहीं, परन्तु मानव-स्वभाव हिसाब रखने की प्रथानुसार कभी-कभी कह बैठता है, 'कि यदि वह बात हो गयी होती तो?' ठीक उसी तरह पन्ना भी राजा बलवन्तसिंह द्वारा बलपूर्वक रानी बनाई जाने के पहले की एक सम्भावना को सोचने लगी थी। सो भी बाबू नन्हकूसिंह का नाम सुन लेने पर। गेंदा मुँहलगी दासी थी। वह पन्ना के साथ उसी दिन से है, जिस दिन से पन्ना बलवन्तसिंह की प्रेयसी हुई। राज्य-भर का अनुसन्धान उसी के द्वारा मिला करता। और उसे न जाने कितनी जानकारी भी थी। उसने दुलारी का रंग उखाड़ने के लिए कुछ कहना आवश्यक समझा।

'महारानी! नन्हकूसिंह अपनी सब जमींदारी स्वाँग, भैसों की लड़ाई, घुड़दौड़ और गाने-बजाने में उड़ाकर अब डाकू हो गया है। जितने खून होते हैं, सबमें उसी का हाथ रहता है। जितनी...' उसे रोककर दुलारी ने कहा—'यह झूठ है। बाबू साहब के ऐसा धर्मात्मा तो कोई है ही नहीं। कितनी विधवाएँ उनकी दी हुई धोती से अपना तन ढँकती हैं। कितनी लड़कियों की ब्याह-शादी होती है। कितने सताये हुए लोगों की उनके द्वारा रक्षा होती है।'

रानी पन्ना के हृदय में एक तरलता उद्वेलित हुई। उन्होंने हँसकर कहा—'दुलारी, वे तेरे यहाँ आते हैं न? इसी से तू उनकी बड़ाई...।'

'नहीं सरकार! शपथ खाकर कह सकती हूँ कि बाबू नन्हकूसिंह ने आज तक कभी मेरे कोठे पर पैर भी नहीं रखा।'

राजमाता न जाने क्यों इस अद्भुत व्यक्ति को समझने के लिए चंचल हो उठी थीं। तब भी उन्होंने दुलारी को आगे कुछ न कहने के लिए तीखी दृष्टि से देखा। वह चुप हो गयी। पहले पहर की शहनाई बजने लगी। दुलारी छुट्टी माँगकर डोली पर बैठ गयी। तब गेंदा ने कहा—'सरकार! आजकल नगर की दशा बड़ी बुरी है। दिन-दहाड़े लोग लूट लिये जाते हैं। सैकड़ों जगह नाल पर जुए में लोग अपना सर्वस्व गँवाते हैं। बच्चे फुसलाये जाते हैं। गलियों में लाठियाँ और छुरा चलने के लिए टेढ़ी भौंहें कारण बन जाती हैं। उधर रेजीडेण्ट साहब से महाराज की अनबन चल रही है।'

राजमाता चुप रहीं।

दूसरे दिन राजा चेतसिंह के पास रेजीडेण्ट मार्कहेम की चिट्ठी आयी, जिसमें नगर की दुर्व्यवस्था की कड़ी आलोचना थी। डाकुओं और गुण्डों को पकड़ने के लिए, उन पर कड़ा नियन्त्रण रखने की सम्मति भी थी। कुबरा मौलवीवाली घटना का भी उल्लेख था। उधर हेस्टिंग्स के आने की भी सूचना थी। शिवालय-घाट और रामनगर में हलचल मच गयी! कोतवाल हिम्मतसिंह पागल की तरह, जिसके हाथ में लाठी, लोहाँगी, गँडासा, बिछुआ और करौली देखते, उसी को पकड़ने लगे।

एक दिन नन्हकूसिंह सुम्भा के नाले के संगम पर, ऊँचे से टीले की घनी हरियाली में अपने चुने हुए साथियों के साथ दूधिया छान रहे थे। गंगा में, उनकी पतली डोंगी बड़ की जटा से बँधी थी। कथकों का गाना हो रहा था। चार उलाँकी इक्के कसे-कसाये खड़े थे।

नन्हकूसिंह ने अकस्मात् कहा—'मलूकी! गाना जमता नहीं है। उलाँकी पर बैठकर जाओ, दुलारी को बुला लाओ।' मलूकी वहाँ मजीरा बजा रहा था। दौड़कर इक्के पर जा बैठा। आज नन्हकूसिंह का मन उखड़ा था। बूटी कई बार छानने पर भी नशा नहीं। एक घंटे में दुलारी सामने आ गयी। उसने मुस्कराकर कहा—'क्या हुक्म है बाबू साहब?'

'दुलारी! आज गाना सुनने का मन कर रहा है।'

'इस जंगल में क्यों?'—उसने सशंक हंसकर कुछ अभिप्राय से पूछा।

'तुम किसी तरह का खटका न करो।' नन्हकूसिंह ने हंसकर कहा।

'यह तो मैं उस दिन महारानी से भी कह आयी हूँ।'

'क्या, किससे?'

'राजमाता पन्नादेवी से'—फिर उस दिन गाना नहीं जमा। दुलारी ने आश्चर्य से देखा कि तानों में नन्हकू की आँखें तर हो जाती हैं। गाना-बजाना समाप्त हो गया था। वर्षा की रात में झिल्लियों का स्वर उस झुरमुट में गूँज रहा था। मन्दिर के समीप ही छोटे-से कमरे में नन्हकूसिंह चिन्ता-निमग्न बैठा था। आँखों में नींद नहीं। और सब लोग तो सोने लगे थे, दुलारी जाग रही थी। वह भी कुछ सोच रही थी। आज उसे, अपने को रोकने के लिए कठिन प्रयत्न करना पड़ रहा था; किन्तु असफल होकर वह उठी और नन्हकू के समीप धीरे-धीरे चली आयी। कुछ आहट पाते ही चौंककर नन्हकूसिंह ने पास ही पड़ी हुई तलवार उठा ली।

तब तक हँसकर दुलारी ने कहा—'बाबू साहब, यह क्या? स्त्रियों पर भी तलवार चलाई जाती है!'

छोटे-से दीपक के प्रकाश में वासना-भरी रमणी का मुख देखकर नन्हकू हँस पड़ा। उसने कहा—'क्यों बाईजी! क्या इसी समय जाने की पड़ी है। मौलवी ने फिर बुलाया है क्या?' दुलारी नन्हकू के पास बैठ गयी। नन्हकू ने कहा—'क्या तुमको डर लग रहा है?'

'नहीं, मैं कुछ पूछने आयी हूँ।'

'क्या?'

'क्या...यही कि...कभी तुम्हारे हृदय में...'

'उसे न पूछो दुलारी! हृदय को बेकार ही समझकर तो उसे हाथ में लिये फिर रहा हूँ। कोई कुछ कर देता—कुचलता—चीरता—उछालता! मर जाने के लिए सब कुछ तो करता हूँ, पर मरने नहीं पाता।'

'मरने के लिए भी कहीं खोजने जाना पड़ता है। आपको काशी का हाल क्या मालूम! न जाने घड़ी भर में क्या हो जाए। क्या उलट-पलट होनेवाला है, बनारस की गलियाँ जैसे काटने दौड़ती हैं।'

'कोई नयी बात इधर हुई है क्या?'

'कोई हेस्टिंग्ज आया है। सुना है उसने शिवालय-घाट पर तिलंगों की कम्पनी का पहरा बैठा दिया है। राजा चेतसिंह और राजमाता पन्ना वहीं हैं। कोई-कोई कहता है कि उनको पकड़कर कलकत्ता भेजने...'

'क्या पन्ना भी...रनिवास भी वहीं है'—नन्हकू अधीर हो उठा था।

'क्यों बाबू साहब, आज रानी पन्ना का नाम सुनकर आपकी आँखों में आँसू क्यों आ गये?'

सहसा नन्हकू का मुख भयानक हो उठा! उसने कहा—-'चुप रहो, तुम उसको जानकर क्या करोगी?' वह उठ खड़ा हुआ। उद्विग्न की तरह न जाने क्या खोजने लगा। फिर स्थिर होकर उसने कहा—'दुलारी! जीवन में आज यह पहला ही दिन है कि एकान्त रात में एक स्त्री मेरे पलँग पर आकर बैठ गयी है, मैं चिरकुमार! अपनी एक प्रतिज्ञा का निर्वाह करने के लिए सैकड़ों असत्य, अपराध करता फिर रहा हूँ। क्यों? तुम जानती हो? मैं स्त्रियों का घोर विद्रोही हूँ और पन्ना!...किन्तु उसका क्या अपराध! अत्याचारी बलवन्तसिंह के कलेजे में बिछुआ मैं न उतार सका। किन्तु पन्ना! उसे पकड़कर गोरे कलकत्ते भेज देंगे! वही...।'

नन्हकूसिंह उन्मत्त हो उठा था। दुलारी ने देखा, नन्हकू अन्धकार में ही वटवृक्ष के नीचे पहुँचा और गंगा की उमड़ती हुई धारा में डोंगी खोल दी—उसी घने अन्धकार में। दुलारी का हृदय काँप उठा।

16 अगस्त, सन् 1881 को काशी डावाँडोल हो रही थी। शिवालय घाट में राजा चेतसिंह लेफ्टिनेण्ट इस्टाकर के पहरे में थे। नगर में आतंक था। दुकानें बन्द थीं। घरों में बच्चे अपनी

माँ से पूछते थे—'माँ, आज हलुएवाला नहीं आया।' वह कहती—'चुप बेटे!—' सड़कें सूनी पड़ी थीं। तिलंगों की कम्पनी के आगे-आगे कुबरा मौलवी कभी-कभी, आता-जाता दिखाई पड़ता था। उस समय खुली हुई खिड़कियाँ बन्द हो जाती थीं। भय और सन्नाटे का राज्य था। चौक में चिथरूसिंह की हवेली अपने भीतर काशी की वीरता को बन्द किये कोतवाल का अभिनय कर रही थी। इसी समय किसी ने पुकारा—'हिम्मतसिंह!'

खिड़की में से सिर निकालकर हिम्मतसिंह ने पूछा—'कौन?'

'बाबू नन्हकूसिंह!'

'अच्छा, तुम अब तक बाहर ही हो?'

'पागल! राजा कैद हो गये हैं। छोड़ दो इन सब बहादुरों को! हम एक बार इनको लेकर शिवालय-घाट जाएँ।'

'ठहरो'—कहकर हिम्मतसिंह ने कुछ आज्ञा दी, सिपाही बाहर निकले। नन्हकू की तलवार चमक उठी। सिपाही भीतर भागे। नन्हकू ने कहा—'नमक-हरामो! चूड़ियाँ पहन लो।' लोगों के देखते-देखते नन्हकूसिंह चला गया। कोतवाली के सामने फिर सन्नाटा हो गया।

नन्हकू उन्मत्त था। उसके थोड़े-से साथी उसकी आज्ञा पर जान देने के लिए तुले थे। वह नहीं जानता था कि राजा चेतसिंह का क्या राजनैतिक अपराध है? उसने कुछ सोचकर अपने थोड़े-से साथियों को फाटक पर गड़बड़ मचाने के लिए भेज दिया। इधर अपनी डोंगी लेकर शिवालय की खिड़की के नीचे धारा काटता हुआ पहुँचा। किसी तरह निकले हुए पत्थर में रस्सी अटकाकर, चंचल डोंगी को उसने स्थिर किया और बन्दर की तरह उछलकर खिड़की के भीतर हो रहा। उस समय वहाँ राजमाता पन्ना और राजा चेतसिंह से बाबू मनियारसिंह कह रहे थे—'आपके यहाँ रहने से, हम लोग क्या करें, यह समझ में नहीं आता। पूजा-पाठ समाप्त करके आप रामनगर चली गयी होतीं, तो यह...'

तेजस्विनी पन्ना ने कहा—'मैं रामनगर कैसे चली जाऊँ?'

मनियारसिंह दुखी होकर बोले—'कैसे बताऊँ? मेरे सिपाही तो बन्दी हैं।'

इतने में फाटक पर कोलाहल मचा। राज-परिवार अपनी मन्त्रणा में डूबा था कि नन्हकूसिंह का आना उन्हें मालूम हुआ। सामने का द्वार बन्द था। नन्हकूसिंह ने एक बार गंगा की धारा को देखा—उसमें एक नाव घाट पर लगने के लिए लहरों से लड़ रही थी। वह प्रसन हो उठा। इसी की प्रतीक्षा में वह रुका था। उसने जैसे सबको सचेत करते हुए कहा—'महारानी कहाँ हैं?'

सबने घूमकर देखा—'अपरिचित और वीर-मूर्ति! शस्त्रों से लदा हुआ पूरा देव!

चेतसिंह ने पूछा—'तुम कौन हो?'

'राज-परिवार का एक बिना दाम का सेवक!'

पन्ना के मुँह से हल्की-सी एक साँस निकलकर रह गई। उसने पहचान लिया। इतने वर्षों बाद! वही नन्हकूसिंह।

मनियारसिंह ने पूछा—'तुम क्या कर सकते हो?'

'मैं मर सकता हूँ! पहले महारानी को डोंगी पर बिठाइए। नीचे दूसरी डोंगी पर अच्छे

मल्लाह हैं। फिर बात कीजिये।'—मनियारसिंह ने देखा, जनानी ड्योढ़ी का दारोगा राज की एक डोंगी पर चार मल्लाहों के साथ खिड़की से नाव सटाकर प्रतीक्षा में है। उन्होंने पन्ना से कहा—'चलिये, मैं साथ चलता हूँ।'

'और...' चेतसिंह को देखकर, पुत्रवत्सला ने संकेत से एक प्रश्न किया, उसका उत्तर किसी के पास न था। मनियारसिंह ने कहा—'तब मैं यहीं?' नन्हकू ने हंसकर कहा—'मेरे मालिक, आप नाव पर बैठें। जब तक राजा भी नाव पर बैठ न जाएँगे, तब तक सत्रह गोली खाकर भी नन्हकूसिंह जीवित रहने की प्रतिज्ञा करता है।'

पन्ना ने नन्हकू को देखा। एक क्षण के लिए चारों आँखें मिलीं, जिनमें जन्म- जन्म का विश्वास ज्योति की तरह जल रहा था। फाटक बलपूर्वक खोला जा रहा था। नन्हकू ने उन्मत्त होकर कहा—'मालिक! जल्दी कीजिए।'

दूसरे क्षण पन्ना डोंगी पर थी और नन्हकूसिंह फाटक पर इस्टाकर के साथ। चेतराम ने आकर एक चिट्ठी मनियारसिंह को हाथ में दी। लेफ्टिनेण्ट ने कहा—'आपके आदमी गड़बड़ मचा रहे हैं। अब मैं अपने सिपाहियों को गोली चलाने से नहीं रोक सकता।'

'मेरे सिपाही यहाँ हैं, साहब?' मनियारसिंह ने हँसकर कहा। बाहर कोलाहल बढ़ने लगा।

चेतराम ने कहा—'पहले चेतसिंह को कैद कीजिए।'

'कौन ऐसी हिम्मत करता है?' कड़ककर कहते हुए बाबू मनियारसिंह ने तलवार खींच ली। अभी बात पूरी न हो सकी थी कि कुबरा मौलवी वहाँ पहुँचा! यहाँ मौलवी साहब की कलम नहीं चल सकती थी, और न ये बाहर ही जा सकते थे। उन्होंने कहा—'देखते क्या हो चेतराम!'

चेतराम ने राजा के ऊपर हाथ रखा ही था कि नन्हकू के सधे हुए हाथ ने उसकी भुजा उड़ा दी। इस्टाकर आगे बड़े, मौलवी साहब चिल्लाने लगे। नन्हकूसिंह ने देखते-देखते इस्टाकर और उसके कई साथियों को धराशायी किया। फिर मौलवी साहब कैसे बचते!

नन्हकूसिंह ने कहा—'क्यों, उस दिन के झापड़ ने तुमको समझाया नहीं? पाजी!'—कहकर ऐसा साफ जनेवा मारा कि कुबरा ढेर हो गया। कुछ ही क्षणों में वह भीषण घटना हो गयी, जिसके लिए अभी कोई प्रस्तुत न था।

नन्हकूसिंह ने ललकारकर चेतसिंह से कहा—'आप क्या देखते हैं? उतरिए डोंगी पर!'—उसके घावों से रक्त के फुहारे छूट रहे थे। उधर फाटक से तिलंगे भीतर आने लगे थे। चेतसिंह ने खिड़की से उतरते हुए देखा कि बीसों तिलंगों की संगीनों में वह अविचलित होकर तलवार चला रहा है। नन्हकू के चट्टानसदृश शरीर से गैरिक की तरह रक्त की धारा बह रही है। गुण्डे का एक-एक अंग कटकर वहीं गिरने लगा। वह काशी का गुण्डा था!